ॐ

परमात्मने नमः

अध्यात्मप्रेमी कविवर पण्डित दौलतरामजी कृत

छहढाला

सम्पादित संस्करण

प्राचीन हस्तलिखित प्रति; कलकत्ता से प्रकाशित प्रति
एवं श्री रामजीभाई माणेकचन्द दोशी कृत टीका पर आधारित

सम्पादन एवं प्रस्तावना

पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन

तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़ (उत्तरप्रदेश)

प्रकाशन सहयोग

★ एक मुमुक्षु परिवार, मुम्बई
★ श्रीजय, खिलन, महेन्द्रभाई शाह, लन्दन

प्रकाशक

तीर्थधाम मङ्गलायतन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट

अलीगढ़-आगरा मार्ग, सासनी-204216 (अलीगढ़) उत्तरप्रदेश

प्रथम संस्करण 3000 प्रतियाँ
द्वितीय संस्करण 3000 प्रतियाँ
दिनाङ्क 03 फरवरी 2010
तीर्थधाम मङ्गलायतन पञ्च कल्याणक की सप्तम वर्षगाँठ

खड्ढछछे. : ८१-१०३४२६-१-५

विक्रय मूल्य - (भारत में) 100 रुपये मात्र (विदेश में) US. $ 3 / U.K. £ 2

Available At -

INDIA

— **Teerthdham Mangalayatan,** Sasni-204216, Aligarh (U.P.)
e-mail : info@mangalayatan.com

— **Pandit Todarmal Smarak Bhawan,** A-4, Bapu Nagar, Jaipur-302015 (Raj.)

— **Shri Hiten A. Sheth, Shree Kundkund-kahan Parmarthik Trust**
302, Krishna-Kunj, Plot No. 30, Navyug CHS Ltd., V.L. Mehta Marg,
Vile Parle (W), Mumbai - 400056
e-mail : vitragva@vsnl.com / shethhiten@rediffmail.com

— **Shri Kundkund Kahan Jain Sahitya Kendra,** Songarh (Guj.)

U.S.A.

— **SECRETARY, DIG. JAIN SWADHIAYA MANDIR SONGARH**
304, Tall Oak Trail, Tarpon Springs, Florida 34688, U.S.A.
e-mail : kahanguru@hotmail.com

— **DR. KIRIT P. GOSALIYA**
14853, North 12th Street, Phoenix, Arizona, 85022 U.S.A.
e-mail : digjain@aol.com

— **Smt. JYOTSANA V. SHAH**
602, Hamilton Ave., Kingston, PA 18704-5622, U.S.A.
e-mail : jyotsana2@yahoo.com

U. K.

— **PRESIDENT, SHRI DIGAMBER JAIN ASSOCIATION**
1, The Broadway, Wealdstone, Harrow, Middlesex, HE3 7EH, U.K.

— **SMT. SHEETAL V. SHAH**
Flat No. 9, Maplewood Court, 31-Eastbury Ave., Northwood,
Middlesex, U.K. (HA6 3LL); e-mail : sheetalvs@aol.com

KENYA

— **PRESIDENT, DIG. JAIN MUMUKSHU MANDAL-NAIROBI**
M/s. Coblantra Ltd., G.P.O. 00100, P.O. Box - 41619, Nairobi, Kenya
e-mail : spraja@mitsuminet.com

मुद्रक : गरिमा क्रियेशन्स, नयी दिल्ली

प्रकाशकीय

(द्वितीयावृत्ति)

अध्यात्मप्रेमी कविवर पण्डित दौलतरामजी द्वारा रचित काव्य ग्रन्थ 'छहढाला' के सम्पादित संस्करण की द्वितीयावृत्ति सद्धर्मप्रेमी स्वाध्यायीजनों को समर्पित करते हुए हमें अत्यन्त हर्ष हो रहा है।

सम्पूर्ण दिगम्बर जैन समाज, 'छहढाला' से भलीभाँति परिचित है। बालक से लेकर वृद्ध तक इस ग्रन्थ को कण्ठस्थ कर अपने को गौरवान्वित अनुभव करते हैं। दिगम्बर जैन समाज द्वारा सञ्चालित सभी परीक्षा बोर्डों में इस ग्रन्थ को पाठ्यक्रम में स्थान प्राप्त है, जो इसकी लोकप्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

वर्तमान सदी के सुप्रसिद्ध आध्यात्मिक सन्त पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी का भी यह अत्यन्त प्रिय ग्रन्थ रहा है। उन्होंने इस ग्रन्थ पर मार्मिक प्रवचन प्रदान करके, इसके आध्यात्मिक रहस्यों से हमें परिचित कराया है। पूज्य गुरुदेवश्री की अमृतवाणी का वर्षों तक स्वयं रसपान करनेवाले और अपनी कक्षा पद्धति से उसे पूरे देश में प्रचारित करनेवाले, मेरे पूज्य पिताश्री पण्डित कैलाशचन्द्र जैन तो 'आत्म-कल्याण के लिए एक छहढाला ही काफी है' — ऐसा बारम्बार कहा ही करते हैं।

ग्रन्थ की इन्हीं सब विशेषताओं से प्रेरित होकर एवं पूज्य पिताजी की भावनानुसार इसके सम्पादित संस्करण के प्रकाशन का निर्णय लिया गया है। यूँ तो यह ग्रन्थ अनेकों संस्थाओं से विविध विद्वानों द्वारा किये गये अनुवाद व सम्पादन के साथ, लाखों की संख्या में प्रकाशित हो चुका है, परन्तु सभी में मूल पाठ में यत्किञ्चित् अन्तर देखने को मिलते हैं। इस कारण अलीगढ़ के भगवान पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन पञ्चायती मन्दिर से उपलब्ध 118 वर्ष प्राचीन विक्रम संवत् 1944 में लिखित प्रति एवं अनेक स्थानों से प्रकाशित प्रतियों से इसका सम्पादन किया गया है।

हमारा उद्देश्य रहा है कि यह कृति पण्डित दौलतरामजी की मूलभाषा में आप तक पहुँचे; अत: हस्तलिखित प्रति को सम्पादन में मूल आधार बनाकर, अन्य प्रतियों से भी आवश्यक सहयोग प्राप्त किया गया है।

इस सम्पादन प्रति में प्रचलित पाठों से कुछ अन्तर देखने को मिलेगा, एवं उससे कुछ शङ्काएँ -आशङ्काएँ भी जन्म लेंगी, इस कारण इस प्रकाशन के अन्त में उक्त हस्तलिखित प्रति को भी स्केन कर प्रकाशित किया जा रहा है। साथ ही प्रत्येक ढाल के पाठान्तर भी दे दिये गये हैं। प्रस्तुत संस्करण

बाल-वृद्ध प्रत्येक के लिये ग्राह्य बनाने के उद्देश्य से, इसमें प्रत्येक छन्द की विषयवस्तु को स्पष्ट करते हुए रोचक रङ्गीन चित्रों का समावेश किया गया है।

इस ग्रन्थ के प्रथम संस्करण में रही हुई अशुद्धियों को भी इस द्वितीय संस्करण में सुधारा गया है, साथ ही पूरे ग्रन्थ की दुबारा सैटिंग करके इसे और भी आकर्षक बनाया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ को हिन्दी में सम्पादित रूप में **तीर्थधाम मङ्गलायतन** के पण्डित देवेन्द्रकुमार जैन, बिजौलियाँ (राज.) ने प्रस्तुत किया है एवं ग्रन्थ व ग्रन्थकार का परिचय प्रदान करनेवाली प्रस्तावना भी उन्होंने लिखी है। इसके प्रकाशन में **तीर्थधाम मङ्गलायतन** के ही पण्डित राकेश जैन शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य का भी पर्याप्त सहयोग रहा है। मैं, अपने दोनों विद्वानों के प्रति कृतज्ञ हूँ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में प्रकाशन सहयोगकर्ता के रूप में ब्रह्मचारी हेमन्तभाई गाँधी, सोनगढ़ के हस्ते एक मुमुक्षु परिवार मुम्बई एवं श्रीजय, खिलन, महेन्द्रभाई शाह परिवार, लन्दन के द्वारा प्रदत्त आर्थिक सहयोग के प्रति कृतज्ञता ज्ञापित करते हैं।

ग्रन्थ में चित्राङ्कन कार्य श्री नारायण शर्मा द्वारा किया गया है। इस कार्य में हमारे पण्डित संजय जैन शास्त्री एवं पण्डित अशोक लुहाड़िया के सुझाव भी उपयोगी रहे हैं। ग्रन्थ को आकर्षक साज -सज्जा एवं टाइप सेटिंग में विवेककुमार पाल का श्रम भी प्रशंसनीय है। कवर डिजायन में श्री निलेशभाई, भावनगर का योगदान प्राप्त हुआ है।

प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन के अवसर पर वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु, पण्डित दौलतरामजी, पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के श्री चरणों में विनम्र वन्दन करते हुए, पूज्य पिताश्री के प्रति भी भक्तिपूर्ण कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ एवं सभी सहयोगियों के प्रति हार्दिक आभार प्रदर्शित करता हूँ।

पूज्य गुरुदेव के शब्दों में लघु समयसार स्वरूप इस ग्रन्थ छहढाला के हिन्दी सम्पादन में यद्यपि पूर्ण सावधानी रखने का प्रयास किया गया है, तथापि यदि किसी प्रकार की कोई मूल सुधी पाठकों के ज्ञान में आये तो इसे मेरा प्रमाद व अज्ञानता समझकर क्षमा करें और भूल / अशुद्धि को मेरे ज्ञान में लाने की कृपा करें, ताकि आगे के संस्करणों में उसे सुधारा जा सके।

ग्रन्थ को लागत से कम मूल्य में प्रचारित करने हेतु आत्मार्थी सहयोगियों का आर्थिक सहयोग भी उल्लेखनीय है।

सभी जीव इस ग्रन्थ स्वाध्याय करके निज आत्महित की साधना करें — यही पवित्र भावना है।

पवन जैन

श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट

तीर्थधाम मङ्गलायतन

(एक मङ्गल आह्वान)

मङ्गलं भगवान् वीरो, मङ्गलं गौतमो गणी।
मङ्गलं कुन्दकुन्दाद्यो, जैनधर्मोऽस्तु मङ्गलम्॥

परमपूज्य अनन्त तीर्थङ्कर भगवन्तों, यथार्थ देव-शास्त्र-गुरु, पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी एवं तद्भक्त बहिनश्री चम्पाबेनसहित समस्त ज्ञानी-महात्माओं के पुण्य-प्रभावनायोग और विश्व के समस्त साधर्मी बन्धुओं के सहयोग से निर्मित **तीर्थधाम मङ्गलायतन**, सत्य के साधकों की साधनाभूमि है। यह तीर्थ किसी व्यक्ति विशेष का नहीं, अपितु जन-जन का है। **तीर्थधाम मङ्गलायतन**, आज एक जाना-पहचाना विश्व-विश्रुत तीर्थ बन चुका है।

इस **तीर्थधाम मङ्गलायतन** का निर्माण श्री आदिनाथ-कुन्दकुन्द-कहान दिगम्बर जैन ट्रस्ट, अलीगढ़ द्वारा हुआ है। इस ट्रस्ट की स्थापना, मात्र आठ वर्ष पूर्व सोमवार, दिनाङ्क 17 जुलाई 2000 को हुई। **तीर्थधाम मङ्गलायतन** के चारों जिन-मन्दिरों का शिलान्यास (भूमि-पूजन) बुधवार, 27 दिसम्बर 2000 को एवं प्रतिष्ठाविधि, 06 फरवरी 2003 को, 'श्री महावीरस्वामी दिगम्बर जिनबिम्ब पञ्च कल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव' के माध्यम से सम्पन्न हुई।

इस **मङ्गलायतन** के अस्सी हजार वर्गगज के विशाल भूखण्ड पर प्रथम चरण में चार भव्य एवं विशाल जिनायतनों के अतिरिक्त पण्डित दौलतराम जिनवाणी मन्दिर, आचार्य समन्तभद्र आत्मचिन्तन केन्द्र, भगवान महावीर धर्मार्थ औषधालय, सत्साहित्य विक्रय केन्द्र, भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन एवं श्री विजयलक्ष्मी भोजनशाला का निर्माण-कार्य होने के बाद, द्वितीय चरण में धन्य मुनिदशा प्रकल्प, मङ्गल वैभव एवं चैतन्य बसेरा व मङ्गल बसदि नामक अतिथिनिवास का निर्माण हो चुका है।

तृतीय चरण के अन्तर्गत विद्वानों एवं वरिष्ठ नागरिकों के लिए मङ्गल-आश्रय का निर्माण-कार्य पूर्ण हो चुका है और आचार्य कुन्दकुन्द शोध संस्थान एवं प्रवचन मण्डप का निर्माण कार्य चल रहा है। इस तृतीय चरण की ही श्रृंखला में — कृत्रिम कैलाशपर्वत के चारों ओर परिक्रमा मार्ग पर संसारदशा की उदयजन्य विचित्रिता को दर्शानेवाले बारह भावनाओं एवं अन्य वैराग्य प्रसङ्गों के चित्र, 'संसार-दर्शन प्रकल्प' के अन्तर्गत फाइबर ग्लास पर निर्मित करके लगाए जा रहे हैं, जिनमें संसारी जीवों का संसार के प्रति वैराग्य जाग्रत होकर मुक्तिमार्ग में गमन हो सके।

तीर्थधाम मङ्गलायतन के चार भव्य जिनालयों में सर्व प्रथम 'भगवान श्री आदिनाथस्वामी मानस्तम्भ मन्दिर' है, जो सर्व प्रथम समवसरण में आनेवाले जीवों के मान का नाश करने में निमित्त बनता

है; तदुपरान्त भगवान श्री आदिनाथस्वामी मन्दिर में भगवान श्री आदिनाथस्वामी की अति भव्य एवं मनोहारी 111 इञ्च उन्नत पद्मासनस्थ प्रतिमा 41 फुट उन्नत कृत्रिम कैलाशपर्वत पर विराजमान है। कैलाशपर्वत की सीढ़ियों पर सभी प्रमुख सिद्धक्षेत्रों एवं तीर्थक्षेत्रों की प्रतिकृतियाँ भी निर्मित हैं।

भगवान श्री महावीरस्वामी मन्दिर में श्री महावीरस्वामी, श्री शान्तिनाथस्वामी एवं श्री पार्श्वनाथस्वामी की भव्य मनोहारी प्रतिमाओं के अलावा, श्री सीमन्धरस्वामी एवं श्री महावीरस्वामी की अष्ट धातु की सुन्दर प्रतिमा विराजमान है। जिन-मन्दिर की दीवारों पर तीर्थङ्कर भगवान की देशना-परम्परा, संसार-दर्शन एवं 'षट्-लेश्या-दर्शन' के चित्र श्वेत पाषाण पर अङ्कित हैं। इस मन्दिर की भित्तियों पर ग्रन्थाधिराज श्री समयसार की सभी 415 गाथाओं को उत्थानिका, हिन्दी पद्यानुवाद एवं सामान्य अर्थसहित सङ्गमरमर पर उत्कीर्ण किया गया है।

महावीर मन्दिर की ही प्रतिकृतिस्वरूप भगवान श्री बाहुबलीस्वामी मन्दिर में भगवान बाहुबली के साथ मुनिराज भरत और मुनिराज बाहुबली की प्रतिमाएँ विराजमान हैं। इसमें पूज्य गुरुदेवश्री की साधनाभूमि स्वर्णपुरी (सोनगढ़) एवं शाश्वत तीर्थधाम सम्मेदशिखर के सङ्गमरमर पर अंकित चित्र हैं तथा भित्तियों पर आचार्यकल्प पण्डित टोडरमलजी द्वारा रचित श्री 'मोक्षमार्गप्रकाशक' का सातवाँ अध्याय, रहस्यपूर्ण चिट्ठी एवं पण्डित दौलतरामजी द्वारा रचित छहढाला उत्कीर्ण हैं। दोनों मन्दिरों में प्रथमानुयोग की कथाओं पर आधारित फाइबर-ग्लास पर निर्मित 13-13 चित्र लगाये गए हैं।

तीर्थधाम मङ्गलायतन ने पञ्च परमागमों में से समयसार, प्रवचनसार, नियमसार के साथ-साथ आत्मसिद्धि के हिन्दी पद्यानुवाद की सङ्गीतमयी प्रस्तुति, प्राचीन कवियों के भजन, देवभक्ति-गुरुभक्ति-जिनवाणीभक्ति एवं पौराणिक व नैतिक कथाओं पर आधारित मङ्गल कथाओं एवं बोध कथाओं की सी.डी., एम.पी.3, वी.सी.डी. एवं डी.वी.डी. बनाई गई हैं।

तीर्थधाम मङ्गलायतन ने आचार्यों और ज्ञानीजनों द्वारा चारों अनुयोगों के रूप में प्रकाशित, हस्तलिखित एवं ताड़पत्रों पर अङ्कित जिनवाणी की सुरक्षा का कार्य भी अपने हाथ में लिया है। इस कार्य में अब तक लगभग छह लाख से अधिक पृष्ठ कम्प्यूटर में स्केन करके सुरक्षित किये जा चुके हैं।

तीर्थधाम मङ्गलायतन में पाषाणनिर्मित जिनायतनों के साथ-साथ, जीवन्त मन्दिरों के निर्माण की प्रक्रिया भी भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन के माध्यम से चल रही है। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र निलय के नाम से निर्मित भगवान श्री आदिनाथ विद्यानिकेतन के रत्नत्रय-निलय में रहनेवाले मङ्गलार्थी छात्रों को 9 वीं से 12 वीं तक उच्चस्तरीय लौकिक शिक्षा के साथ-साथ धार्मिक शिक्षा भी दी जाती है।

हमारा उद्देश्य स्वस्थ, स्वावलम्बी, चरित्रवान् एवं संस्कारी युवक तैयार करना है, जो नि:स्वार्थभाव से आत्मकल्याण के साथ-साथ वीतराग धर्म का प्रचार-प्रसार कर सके। वर्तमान में 70 से अधिक छात्र यहाँ अध्ययनरत हैं एवं अनेक छात्र उच्चस्तरीय इंजीनियरिंग का अध्ययन करने एवं सी.ए., आई.ए.एस., आई.आई.टी. की तैयारी करने हेतु **मङ्गलायतन विश्वविद्यालय**, अलीगढ़, सोलापुर, दिल्ली,

मुम्बई, इन्दौर, बैंगलोर, कोलकाता, कोटा, जयपुर आदि शहरों के विशेष संस्थानों में अध्ययनरत हैं। **तीर्थधाम मङ्गलायतन** के छात्रों के उद्देश्य से ही एक नवीन छात्रावास **मङ्गलायतन विश्वविद्यालय** के निकट बेसवां, अलीगढ़ में भी प्रारम्भ किया जा चुका है।

तीर्थधाम मङ्गलायतन द्वारा सितम्बर 2001 से **'मङ्गलायतन'** नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन निरन्तर किया जा रहा है। इस पत्रिका में जैनदर्शन के आधारभूत सिद्धान्तों पर जिनागम के मूल ग्रन्थों एवं पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के मङ्गल प्रवचनों के अतिरिक्त अन्य रोचक एवं शिक्षाप्रद सामग्री का प्रकाशन भी होता है। इस पत्रिका ने विशेषाङ्कों की विशेष शृंखला प्रकाशित करके, **'मङ्गलायतन'** पत्रिका के प्रत्येक अङ्क को साधर्मियों के लिए संग्रहणीय बना दिया है।

पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी के अन्तस्थल में व्याप्त मुनिभक्ति को आदर्श बना कर, **तीर्थधाम मङ्गलायतन** में **'धन्य-मुनिदशा प्रकल्प'** का निर्माण किया गया है। इस प्रकल्प में मुनिदशा के विभिन्न पहलुओं को जीवन्त मूर्तियों एवं प्रकाश व ध्वनि के विशिष्ट सङ्गम के साथ दर्शाया गया है। आज यह रचना, सम्पूर्ण विश्व के साधर्मियों के लिए अमूल्य धरोहर बन चुकी है।

तीर्थधाम मङ्गलायतन से जिनवाणी प्रकाशन का कार्य भी द्रुतगति से संचालित है। अब तक यहाँ से अनेक ग्रन्थों का प्रकाशन हो चुका है।

उत्तरप्रदेश सरकार ने **तीर्थधाम मङ्गलायतन** के चारों दिशाओं में तीन किलोमीटर क्षेत्र को शामिल कर, विशेष क्षेत्र विकास प्राधिकरण (इशिलळरश्र अीशर उर्शींशश्रेशिर्पीं अींहीर्ळू - झडअउक्षड़) के गठन की घोषणा की है। इसके गठन से **तीर्थधाम मङ्गलायतन** का चतुर्मुखी समग्र विकास सुनिश्चित है।

उत्तरप्रदेश सरकार ने जनवरी 2006 में **तीर्थधाम मङ्गलायतन** को प्रदेश में प्रमुख जैन पर्यटन क्षेत्र के रूप में मान्यता देकर, इस क्षेत्र के समग्र विकास के लिए कार्य प्रारम्भ किया है एवं इसी वर्ष **मङ्गलायतन विश्वविद्यालय** की स्थापना को स्वीकृति प्रदान कर, उच्च शिक्षा में कीर्तिमान स्थापित करने का एक सुअवसर हमें प्रदान किया है। इस विश्वविद्यालय में अध्यात्म विद्या से संयुक्त — इंजीनियरिंग, कॉमर्स, साइन्स, मैनेजमेन्ट, आर्टस्, पत्रकारिता आदि विषयों पर स्नातक एवं स्नातकोत्तर स्तर की डिग्री प्रदान की जा रही हैं। इस संस्थान का अल्पसंख्यकस्वरूप जैनधर्म एवं जैन समाज के लिए अवश्य ही लाभदायी सिद्ध होगा।

विशेष प्रसन्नता की बात यह है कि इसी **मङ्गलायतन विश्वविद्यालय** की धरा पर, उसके प्रमुख द्वार के ठीक सामने एक विशाल जिन-मन्दिर एवं विशाल कीर्तिस्तम्भ का निर्माण पूर्णता की ओर है एवं दिसम्बर 2010 में इन जिनमन्दिर का भव्य पञ्च कल्याणक महोत्सव आयोजित है।

अन्त में, आपसे अनुरोध है कि **'तीर्थधाम मङ्गलायतन'** के पुन: पुन: दर्शन करने हेतु अवश्य पधारें। हम आपका स्वागत करते हैं, मङ्गल अभिवादन करते हैं।

– पण्डित अशोक लुहाड़िया

03 फरवरी 2010 **निदेशक, तीर्थधाम मङ्गलायतन, अलीगढ़**

छहढाला

विषयानुक्रमणिका

विषय	छन्द नम्बर	पृष्ठ
पहली ढाल		
संसार परिभ्रमण के दुःख		
मङ्गलाचरण		
श्रीगुरु की करुणा	1	3
संसार दु:खों का मूलकारण	2	4
जीवों के संसार भ्रमण की कथा	3-4	5
निगोद और एकेन्द्रिय के दु:ख		
त्रसपर्याय की दुर्लभता व दु:ख	5	8
तिर्यञ्चगति के विविध दु:ख	6-8	9
नरकगति के दु:ख	9-12	12
मनुष्यगति के दु:ख	13-14	18
देवगति के दु:ख	15-16	20
पहली ढाल का सारांश		22
दूसरी ढाल		
संसार दुःख का मूलकारण : मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र		
संसार दु:खों का मूलकारण	1	25
अगृहीत मिथ्यादर्शन का स्वरूप	2-7	27
एवं प्रयोजनभूत जीवादि सात तत्त्वों सम्बन्धी भूल		
अगृहीत मिथ्याज्ञान का स्वरूप	7	34
अगृहीत मिथ्याचारित्र का स्वरूप	8	36
गृहीत मिथ्यादर्शन एवं कुगुरु-कुदेव-कुधर्म का स्वरूप	9-12	37
गृहीत मिथ्याज्ञान का स्वरूप	13	43
गृहीत मिथ्याचारित्र का स्वरूप	14	45
मिथ्यात्वादि के परित्यागपूर्वक आत्महित की प्रेरणा	15	46
दूसरी ढाल का सारांश		47

तीसरी ढाल

मुक्तिमार्ग का पहला चरण : सम्यग्दर्शन - स्वरूप एवं महिमा

आत्महितरूप मोक्षमार्ग का निरूपण	1	49
निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप	2	52
व्यवहार सम्यग्दर्शन का वर्णन	3	54
जीव तत्त्व और उसके भेद-प्रभेद	4-6	56
अजीव तत्त्व का वर्णन	7-8	63
आस्रव और बन्ध तत्त्व का वर्णन	8-9	65
संवर-निर्जरा तत्त्व का वर्णन	9	68
मोक्ष तत्त्व और देव-गुरु-धर्म का वर्णन	10	71
सम्यक्त्व के गुण-दोष और उनके ग्रहण-त्याग का उपदेश	11-14	74
सम्यक्दृष्टि जीव की दशा और महिमा	15	84
सम्यग्दर्शन का महात्म्य / दूर्गति गमन का अभाव	16	86
मोक्षमहल की प्रथम सीढ़ी सम्यग्दर्शन	17	88
तीसरी ढाल का सारांश		90

चौथी ढाल

मुक्तिमार्ग का दूसरा चरण - सम्यग्ज्ञान एवं देशचारित्र

सम्यग्ज्ञान का लक्षण	1	92
सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में अन्तर	2	93
सम्यग्ज्ञान के भेद-प्रभेद एवं महिमा	3-4	95
सम्यग्ज्ञान का महान फल और उसके अभाव में सब निष्फल	5	99
सम्यग्ज्ञान के उद्यम का उपदेश	6-7	101
सम्यग्ज्ञान की महिमा	8	106
लाख बात की बात - निज आतम ध्याओ	9	108
श्रावकधर्म का निरुपण पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत, चार शिक्षाव्रत	10-14	110
व्रतों के निरतिचार पालन का फल	15	120
चौथी ढाल का सारांश		122

पाँचवी ढाल

वैराग्यजननी : बारह भावनाएँ

बारह भावनाओं के चिन्तवन का उपदेश एवं फल	1–2	124
अनित्य भावना	3	126
अशरण भावना	4	128
संसार भावना	5	130
एकत्व भावना	6	132
अन्यत्व भावना	7	134
अशुचित्व भावना	8	136
आस्रव भावना	9	138
संवर भावना	10	140
निर्जरा भावना	11	142
लोक भावना	12	144
बोधिदुर्लभ भावना	13	146
धर्म भावना	14	148
मुनिधर्म के निरूपण की प्रतिज्ञा	15	149
पाँचवीं ढाल का सारांश		150

छठवीं ढाल

मुक्तिमार्ग का तीसरा चरण : सम्यक्चारित्र और उसका फल

मुनिराज के अट्ठाईस मूल गुण एवं तीन गुप्तियाँ पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ, तीन गुप्तियाँ, पाँच इन्द्रिय विजय, छह आवश्यक, सात शेष गुण	1–6	151
मुनिराज का समताभाव	6	162
मुनिदशा में बारह तप, दश धर्म आदि का वर्णन	7	165
मुनिराज के शुद्धोपयोग / स्वरूपाचरण चारित्र का वर्णन और फल	8–11	168
सिद्धदशा का वर्णन	12–13	176
रत्नत्रय की आराधना का उपदेश	14	180
ग्रन्थकार की अन्तिम शिक्षा इह राग–आग दहे सदा......... दाव मति चूकै यहै...	15	182
ग्रन्थकार की प्रशस्ति एवं लघुता–प्रदर्शन		184
छठवीं ढाल का सारांश		185
परिशिष्ट – हस्तलिखित छहढाला		187

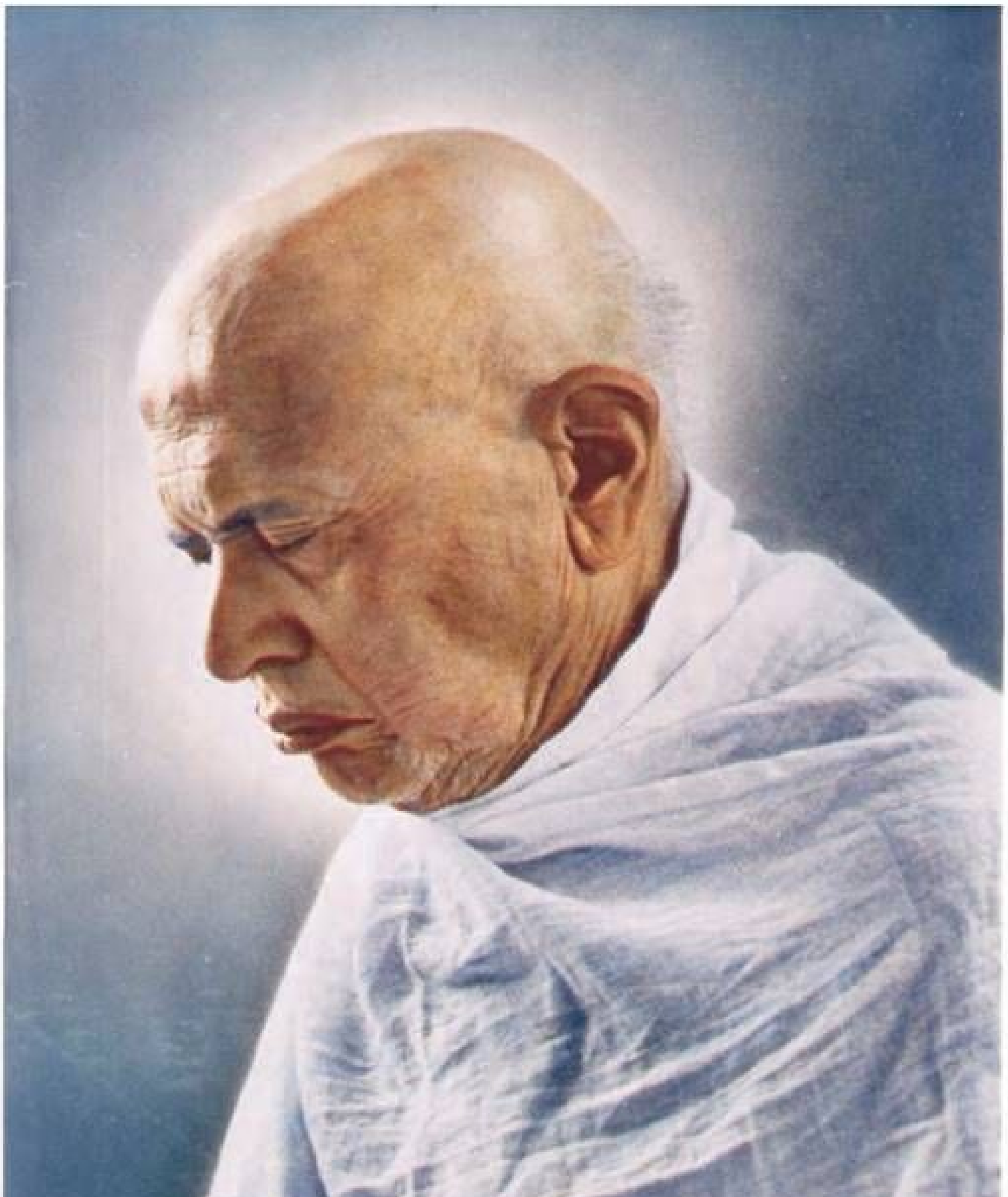

हमारे जीवनशिल्पी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

प्रस्तावना

वीतराग सर्वज्ञ परमात्मा द्वारा प्रकाशित एवं प्ररूपित आत्महितकारी मङ्गल देशना, हमें ज्ञानी सन्तों एवं विद्वानों के माध्यम से सतत उपलब्ध रही है। सभी आत्मज्ञानी महापुरुषों ने निज आत्मस्वरूप के साक्षात्कारपूर्वक, उसके स्वरूप को वाणी अथवा लेखनी के माध्यम से उद्घाटित करने का महा–मङ्गलमय प्रयत्न करके, अज्ञान–अन्धकार से विमूढ़ जीवों पर अनन्त –अनन्त उपकार किया है।

जहाँ भावलिङ्गी वीतरागी सन्तों ने प्राकृत / अप्रभ्रंश / संस्कृतभाषा में अनेक आत्महितकारी ग्रन्थों की रचना कर, माँ जिनवाणी के कोष को समृद्ध किया है, वहीं आत्माज्ञानी गृहस्थ विद्वान भी इस कार्य में पीछे नहीं रहे हैं। इन विद्वानों ने उन महा–ग्रन्थों की देशभाषामय टीकाएँ रचकर तथा उनके ही आधार पर गद्य–पद्यभाषा में सत्–साहित्य की संरचना करके, अल्पबुद्धि जीवों के लिए मुक्तिमार्ग को टिकाये रखा है।

हम परमपूज्य तीर्थङ्कर भगवन्तों एवं पूज्य वीतरागी सन्तों के जितने ऋणी हैं, उतने ही ऋणी इन विद्वानों के भी हैं। 'गृहस्थ पण्डित की रचना' कहकर, इन मनीषियों की रचनाओं की उपेक्षा, विवेकसम्मत मार्ग नहीं कहा जा सकता।

विद्वानों की इस परम्परा के पावन प्रवाह में अध्यात्मप्रेमी कविवर पण्डित दौलतरामजी का नाम अग्रगण्य है। आपके द्वारा रचित **'छहढाला'** के माध्यम से आज आप आवाल–गोपाल सबके कण्ठहार बने हुए हैं।

बालक से लेकर वृद्ध, अव्रती से लेकर महाव्रती, सभी छहढाला को कण्ठस्थ कर अपने को गौरवान्वित अनुभव करते हैं। सच तो यह है कि इस कालजयीकृति ने कविवर को भी कालजयी व्यक्तित्व प्रदान किया है।

पण्डित दौलतराम – संक्षिप्त जीवनवृत्त

प्रस्तुत कृति 'छहढाला' के रचनाकार पण्डित दौलतराम का जन्म विक्रम संवत् 1855 (सन् 1798 ईसवी) में, अलीगढ़–हाथरस के मध्य स्थित 'सासनी' ग्राम में हुआ था। आपके पिताश्री का नाम 'टोडरमल' था। आप पल्लीवाल जाति के नररत्न थे एवं आपका गोत्र 'गंगोरीवाल

अथवा गंगटीवाल' था। कविवर के पिता, अपने छोटे भाईश्री चुन्नीलाल के साथ हाथरस में कपड़े का व्यापार करते थे।

कविवर दौलतराम की शिक्षा एवं शिक्षा गुरु के सम्बन्ध में कुछ भी ज्ञात नहीं है, पर इतना निश्चित है कि ये संस्कृत / प्राकृत भाषाओं के मर्मज्ञ मनीषी थे। आपके द्वारा रचित ग्रन्थों में उपलब्ध जिन–सिद्धान्तों की गम्भीरता, इस बात का ज्वलन्त प्रतीक है।

आपका विवाह सेठ चिन्तामणि जैन, छिपैटी, अलीगढ़ की सुपुत्री से हुआ था। आपके बड़े पुत्र टीका राम का जन्म विक्रम सम्वत् 1883 और छोटे पुत्र का जन्म विक्रम सम्वत् 1886 में हुआ था। आपके बड़े पुत्र लश्कर में रहते थे। आपके छोटे पुत्र के सन्दर्भ में कुछ भी ज्ञात नहीं हो सका है।

कविवर दौलतराम, हाथरस में अपने पिता और चाचा के साथ कपड़े के व्यापार में सहयोग करते थे परन्तु स्वाध्यायप्रेमी होने के कारण यदा–कदा समय निकालकर शास्त्रों के अध्ययन –मनन में लीन हो जाया करते थे। एक बार की बात है कि वे हाथरस के जिनमन्दिर में गोम्मटसार का स्वाध्याय कर रहे थे। उसी समय मथुरा के प्रसिद्ध सेठ मणिरामजी जिनदर्शन हेतु वहाँ पधारे। वे उनके स्वाध्याय से अत्यधिक प्रभावित हुए और उनसे हाथरस छोड़कर मथुरा चलने का आग्रह करने लगे। पण्डित दौलतराम उनके साथ मथुरा चले गये और कुछ समय वहाँ बड़े आनन्द से रहे भी, परन्तु सम्भवतया सेठजी के वैभव की चकाचौंध में उनका मन नहीं लगा; अत: वे वहाँ से वापस अपने घर आ गये।

घर आने के बाद उन्होंने पुन: आजीविका के सम्बन्ध में सोचा और अलीगढ़ जाकर छींट छापने का कार्य करने लगे। प्रतीत होता है कि वे आजीविका की ओर से निश्चिन्त नहीं थे और उनकी आर्थिक स्थिति भी ठीक नहीं थी, अतएव उन्हें अपने जीवन में बार–बार इधर से उधर होना पड़ रहा था किन्तु साथ ही यह भी प्रतीत होता है कि उनकी अध्यात्मरुचि अत्यन्त प्रबल थी; अत: वे इन उदयाधीन परिस्थितियों से विशेष आकुलित भी नहीं होते थे। कहा जाता है कि जिस समय वे छींट छापने का कार्य करते थे, उस समय अपने समीप एक चौकी पर कोई प्राकृत या संस्कृत भाषा का शास्त्र विराजमान कर लेते थे और छींट छापते हुए उसकी गाथाएँ या श्लोक भी याद करते जाते थे। उनकी स्मरणशक्ति एवं रुचि इतनी प्रबल थी कि वे एक दिन में साठ –सत्तर गाथाएँ या श्लोक कण्ठस्थ कर लेते थे।

कविवर दौलतराम के जीवन का यह प्रसङ्ग आत्महित के अभिलाषियों द्वारा बारम्बार विचार करने योग्य है क्योंकि इससे व्यर्थ के आर्तध्यान आदि विकारों से बचकर अधिक से अधिक समय तत्त्वाभ्यास करने की मङ्गल प्रेरणा प्राप्त होती है।

अलीगढ़ के बाद कविवर दौलतराम, दिल्ली आकर रहने लगे। दिल्ली में उन्हें विशिष्ट स्वाध्यायी एवं अध्यात्मरुचिसम्पन्न साधर्मियों का ऐसा सुन्दर समागम मिला कि वे सभी चिन्ताएँ भूल गये और फिर वहाँ से अन्यत्र कहीं नहीं गये; जीवन के अन्तिम समय तक वहीं रहे। आपने विक्रम सम्वत् 1901 में माघ कृष्णा चतुर्दशी को दिल्ली के अनेक साधर्मी बन्धुओं के साथ तीर्थराज सम्मेदशिखर की यात्रा भी की थी।

कविवर पण्डित दौलतराम ने लगभग 68 वर्ष की उम्र में, मार्गशीर्ष कृष्णा अमावस्या, विक्रम सम्वत् 1923 को (07 दिसम्बर 1866, शुक्रवार) मध्याह्न में समाधिपूर्वक शरीर त्याग दिया। यह भी कहा जाता है कि उन्हें अपनी मृत्यु का छह दिन पूर्व ही आभास हो गया था और उन्होंने सबसे क्षमायाचना करके समाधिभाव धारण कर लिया था।

कविवर दौलतराम – रचनाएँ एवं संक्षिप्त परिचय

कविवर दौलतराम कृत दो रचनाएँ ही उपलब्ध हैं – (1) दौलत विलास, और (2) छहढाला।

(1) दौलत विलास, कविवर की स्वतन्त्र रचना नहीं है, अपितु उनके द्वारा लिखित 124 भजनों का अनूठा संग्रह है। इन भजनों के परिशीलन से कवि का बहु-आयामी व्यक्तित्व उभरता है। भजनोंरूपी रङ्ग-बिरङ्गे इस गुलदस्ते में कविवर एक भक्तकवि, सिद्धान्त-मर्मज्ञ, अध्यात्मप्रेमी, वैरागी, उपदेशक एवं सफल समालोचक के रूप में प्रतिष्ठित हुए हैं।

वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु की आराधना में समर्पित उनके भजनों में, जहाँ भक्ति का तरल प्रवाह विद्यमान है, वहीं अध्यात्म की गम्भीरता भी कम नहीं है। वे भक्त तो हैं परन्तु अन्धभक्त नहीं हैं। कविवर के भजनों में उनकी उक्त वर्णित विशेषताएँ स्पष्ट परिलक्षित होती हैं, जैसे –

- 'निरखत जिनचन्द्र वदन, 'स्वपद सुरुचि आई...... ।
- मैं आयो जिन शरण तिहारी
  मैं चिरदु:खी विभावभाव तें, स्वाभाविक निधि आप विसारी..... ॥
- हे जिन! मेरी ऐसी बुधि कीजे।
  राग-द्वेष दावानल तें बचि, समतारस में भींजे...... ॥

इसी प्रकार शास्त्रभक्ति में समागत अध्यात्मरस की छटा भी देखने योग्य है।

- जिनबैन सुनत मेरी भूल भगी।
  कर्मस्वभाव भाव चेतन को, भिन्न पिछानन सुमति जगी..... ॥

गुरुभक्ति में समाहित भक्ति एवं अध्यात्म की धारा भी अनुप्रेक्षणीय है —

– धनि मुनि जिन यह भाव पिछाना।

तन–व्यय वांछित प्रापति मानी, पुण्य–उदय दु:ख जाना॥

इसी प्रकार स्तुति '**सकल ज्ञेय ज्ञायक तदापि..........**' कविवर की अति लोकप्रिय रचना है, तो '**हम तो कबहूँ न निजघर आये**' इत्यादि रचनाओं में उपदेश, वैराग्य एवं अपनी समालोचना के स्वर गुञ्जायमान हुए हैं।

(2) छहढाला, कविवर दौलतराम की अमरकृति है। छहढाला यद्यपि कवि की मौलिक रचना है, तथापि इसकी रचना कविवर बुधजन कृत छहढाला से प्रेरित होकर की गयी है। इस बात का उल्लेख कविवर ने इन शब्दों में किया है —

– कर्‌यौ तत्त्व उपदेश यह, लख बुधजन की भाख .....

वर्तमान में उपलब्ध काव्य सहित्य में प्रस्तुत छहढाला के अतिरिक्त कविवर द्यानतराय कृत छहढाला एवं कविवर बुधजन कृत छहढाला भी उपलब्ध होती है।

यद्यपि कविवर द्यानतराय ने अपनी उस कृति का नाम 'सुबोध पचासका' दिया है, तथापि छह प्रकरण होने से उसे भी छहढाला नाम से ही जाना–माना जाता है। विषय–वस्तु की दृष्टि से वह सामान्य रचना कही जा सकती है, यही कारण है कि वह विशेष ख्याति प्राप्त नहीं हो सकी। छहढाला के रूप में उपलब्ध कृतियों में यह सर्वाधिक प्राचीन है, जिसकी रचना विक्रम संवत् 1798, कार्तिक माह की तिथि तेरस को हुई थी।

कविवर बुधजन कृत छहढाला में कविवर द्यानतराय कृत छहढाला की तुलना में विषय –वस्तु की दृष्टि से काफी प्रमेय उपलब्ध है, फिर भी व्यवस्थित प्रस्तुतिकरण के क्रम का अभाव प्रतीत होता है। इसकी रचना विक्रम संवत् 1859 के अक्षय तृतीया के दिन सम्पूर्ण हुई थी।

लगता है इन्हीं सभी कारणों से पण्डित दौलतराम को इस कृति की रचना की आवश्यकता प्रतीत हुई हो। जो भी कारण रहा हो, परन्तु यह बात एकदम सत्य है कि विषय वस्तु के प्रस्तुतिकरण का व्यवस्थित क्रम, भाषा की सरलता इत्यादि कारणों से, कविवर बुधजन के बाद रची गयी यह छहढाला अद्वितीय बन गयी है। आज तो इसकी तुलना, परम पूज्य भगवत् कुन्दकुन्दाचार्य की महान कृति समयसार से की जाती है। पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी इस लघु ग्रन्थ को 'छोटा समयसार' कहते थे।

सम्पूर्ण ग्रन्थ छह अधिकारों में विभक्त है, इसी कारण छहढाला नाम से सुविख्यात हो गया है। 'ढाल' शब्द का अर्थ करते हुए आध्यात्मिक सत्पुरुष पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी कहते है

— 'इस ग्रन्थ में मिथ्यात्वादि शत्रुओं से आत्मा की रक्षा करने के उपाय का वर्णन है; इसलिए यह शास्त्र मिथ्यात्वादि से रक्षा करने के लिए ढाल के समान है।'

इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में (1) चौपाई, (2) पद्धरि, (3) जोगीरासा, (4) रोला, (5) चाल, और (6) हरिगीत छन्द का मुख्यरूप से प्रयोग हुआ है। एक सोरठा एवं तीन दोहा भी उपलब्ध हैं। पूरे ग्रन्थ की छन्द संख्या कुल 96 है।

प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना विक्रम संवत् 1891, वैशाख शुक्ला तृतीया (रविवार, 11 मई 1834 ईसवी) के दिन हुई है।

छहढाला : विषय वस्तु –

गागर में सागर तुल्य इस ग्रन्थ के छह अधिकारों में वर्णित विषय वस्तु का सामान्य परिचय इस प्रकार है —

पहली ढाल में मङ्गलाचरण में वीतराग-विज्ञानता को, शिवस्वरूप और शिवकार बताते हुए नमस्कार किया गया है। तत्पश्चात् जीव के संसार परिभ्रमण की अत्यन्त कष्टदायिनी कथा का प्रारम्भ हुआ है, जिसमे निगोद से लेकर देवगति तक में प्राप्त दुःखों का विशद वर्णन है।

यद्यपि सम्पूर्ण वर्णन, उन पर्यायों में प्राप्त संयोगों को लक्ष्य करके किया गया है तथापि दो स्थल ऐसे हैं जो इस बात की सिद्धि के लिए पर्याप्त हैं कि उन दशाओं के प्रतिकूल कहे जानेवाले संयोग नहीं, अपितु अपना मोहभाव अथवा सम्यग्दर्शन का अभाव ही इन दुःखों का मूलकारण है। ग्रन्थकार ने संयोग की ओर से दुःख का वर्णन करते हुए भी प्रारम्भ में **'मोहमहामद पिओ अनादि, भूल आपको भरमतवादि'** तथा **'सम्यग्दर्शन बिन दुःख पाय'** कहकर अपने अभिप्राय को शाब्दिक अभिव्यक्ति भी प्रदान कर दी है।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि इस ढाल में वर्णित चतुर्गति परिभ्रमण के दुःख के वर्णन में ग्रन्थ कार्तिकेयानुप्रेक्षा का अनुसरण किया गया है।

दूसरी ढाल में संसारभ्रमण के मूलभूत कारण मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का गृहीत और अगृहीत भेद करके निरुपण किया गया है। यह वर्णन इतना अद्‌भुत है कि कविवर संक्षेप में ही जीवादि तत्त्वों का सही स्वरूप एवं उनके सन्दर्भ में होनेवाली विपरीत मान्यताओं का एक साथ, एक ही छन्द में दिग्दर्शन कराने में सफल रहे हैं। उदाहरणार्थ —

'रागादि प्रगट ये दुःख देन, तिनहिं को सेवत गिनत चैन'

आस्रवतत्त्व की भूल के रूप में लिखा गया प्रस्तुत छन्द, अपने प्रथम चरण मे ही 'रागादिभाव प्रगटरूप से दुःखदायक है' कहकर आस्रवतत्त्व का सम्यक् परिचय एवं 'उनका

सेवन करके अपने को सुखी मानता है' — ऐसा कहकर आस्रवतत्त्व सम्बन्धी विपरीत धारणा को भी स्पष्ट कर देता है।

गृहीतमिथ्यादर्शन के अन्तर्गत कुदेवादि की चर्चा में, उनके स्वरूप की चर्चा तो की गयी है परन्तु उसमें कहीं भी व्यक्ति विद्वेष की गन्ध का आभास नहीं है, जो लेखक के तटस्थ समालोचक व्यक्तित्व को उजागर करता है।

'आतम-अनात्म के ज्ञान-हीन, जे जे करनी तन करन छीन' — मिथ्याचारित्र के सन्दर्भ में उल्लखित कवि का यह मार्गदर्शन अत्यन्त भाववाही है। इसमें जहाँ आत्मज्ञान शून्य थोथे क्रियाकाण्ड को मात्र शरीर को क्षीण करनेवाला कहा गया है, वही इस बात का सङ्केत भी कर दिया गया है कि सभी क्रियाएँ, आत्मज्ञानसंयुक्त होने पर ही सम्यक्चारित्र संज्ञा प्राप्त कर सकती हैं।

अन्त में मिथ्यात्वादि महान कष्टकारी भावों के परित्यागपूर्वक आत्महित के पंथ में लगने की मङ्गल प्रेरणा भी दी गयी है।

तीसरी ढाल में आत्महित को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि आत्मा का हित सुख है और सुख का अर्थ है आकुलतारहित दशा। आकुलता, मुक्तदशा में नहीं है; अत: हमें मुक्तिमार्ग में लगना चाहिए। सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता ही मुक्तिमार्ग है। वह एक ही प्रकार का होने पर भी उसके कथन की दो पद्धतियाँ हैं।

ध्यान रहें **'शिवमग दुविध विचारो'** कहकर कवि ने दो प्रकार से मोक्षमार्ग का विचार, अर्थात् ज्ञान करने को कहा है; दो मोक्षमार्ग मानने को नहीं। इस सन्दर्भ में कविवर ने आचार्य कुन्दकुन्ददेव रचित नियमसार गाथा दो की टीका एवं आचार्यकल्प पण्डित प्रवर टोडरमल की अमरकृति मोक्षमार्गप्रकाशक की पद्धति का पूर्णत: अनुसरण किया है, जो पूर्णत: जिनागम सम्मत है।

वीतरागभाव एक ही मोक्षमार्ग है एवं वह पर के अत्यन्त निरपेक्ष है। इस सम्बन्धी दोनों ग्रन्थों के उद्धरण इस प्रकार है –

परमनिरपेक्षतया निजपरमात्मतत्त्वसम्यक्‌श्रद्धानपरिज्ञानानुष्ठानशुद्धरत्नत्रयात्मक-मार्गो मोक्षोपाय:, तस्य शुद्धरत्नत्रयस्य फलं स्वात्मोपलब्धिरिति।

अर्थात्, निज परमात्मतत्त्व के सम्यक्‌श्रद्धान-ज्ञान-अनुष्ठानरूप शुद्धरत्नत्रयात्मक मार्ग, परम निरपेक्ष होने से मोक्ष का उपाय है और उस शुद्धरत्नत्रय का फल स्वात्मोपलब्धि (निज शुद्ध आत्मा की प्राप्ति) है। *(नियमसार, गाथा-2 की टीका)*

सो मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार है। जहाँ सच्चे मोक्षमार्ग को मोक्षमार्ग निरूपित किया जाए, सो 'निश्चय मोक्षमार्ग' है और जहाँ जो मोक्षमार्ग तो है नहीं, परन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त है व सहचारी है, उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहा जाए, सो 'व्यवहार मोक्षमार्ग' है। क्योंकि निश्चय-व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है। सच्चा निरूपण सो निश्चय, उपचार निरूपण सो व्यवहार; इसलिए निरूपण-अपेक्षा दो प्रकार मोक्षमार्ग जानना। (किन्तु) एक निश्चय मोक्षमार्ग है, एक व्यवहार मोक्षमार्ग है - इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है।

(मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ 248)

अपने कथन को आगे बढ़ाते हुए कविवर ने निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप बतलाकर, व्यवहारसम्यग्दर्शन का विस्तृत विवेचन किया है, जिसके अन्तर्गत अवस्थादृष्टि से आत्मा के बहिरात्मा-अन्तरात्मा व परमात्मारूप भेद-प्रभेदों को समझाया गया है। कविवर द्वारा किया गया यह वर्णन, योगसार एवं समाधितन्त्र इत्यादि का अनुसरण करता है और अत्यन्त संक्षेप में सारभूत तात्पर्य का प्रतिपादन कर देता है। तत्पश्चात् अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्षतत्त्व का सरल प्रवाहमयी भाषा में निरुपण करके सम्यग्दर्शन का व्यवहारिक रूप स्पष्ट किया गया है।

सम्यग्दर्शन के साथ नियमरूप से नहीं पाये जानेवाले 25 दोषों एवं सम्यग्दर्शन के सहचर अष्ट अङ्गो का वर्णन भी अपनी विशिष्टता की छाप छोड़ता है।

सम्यग्दृष्टि की उत्पत्ति नहीं होने योग्य स्थानों का परिचय देते हुए, अविरत सम्यग्दृष्टि की महिमा एवं देवों द्वारा की जानेवाली प्रशंसा का वर्णन भी पाठक के हृदय में सम्यग्दर्शन के प्रति भक्ति एवं उसकी प्राप्ति की भावना जगा देता है।

अविरत सम्यग्दृष्टि की आन्तरिक स्थिति का वर्णन करते हुए कविवर कहते हैं -

दोषरहित गुणसहित सुधी जे, सम्यकदर्श सजै हैं।
चारित मोहवस लेश न संजम, पै सुरनाथ जजै हैं॥
गेही, पै गृह में न रचै जौं, जल में भिन्न कमल है।
नगरनारि कौ प्यार जथा, कादे में हेम अमल है॥ 3/15॥

इस वर्णन में समयसार के निर्जरा अधिकार की छाप देखी जा सकती है।

अन्त में सम्यग्दर्शन को मोक्षमार्ग की पहली सीढ़ी बताकर, इसके अभाव में ज्ञान-चारित्र की सम्यक्ता का अभाव दर्शाते हुए, इस मनुष्यभव की दुर्लभता का परिज्ञान कराकर शीघ्र सम्यग्दर्शन की प्राप्ति की पावन प्रेरणा इस प्रकार दी गयी है -

चौथी ढाल में मुक्तिमार्ग के द्वितीय अङ्ग सम्यग्ज्ञान का एवं देशचारित्र का प्रतिपादन किया गया है। इसके अन्तर्गत ज्ञान के पाँच भेद एवं उनके प्रत्यक्ष-परोक्षादि प्रभेदों को स्पष्ट किया गया

है। इस जगत में ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई सुख का कारण नहीं है। आत्मज्ञान के बिना अनन्त बार मुनिव्रत धारण कर, नौवें ग्रैवेयक तक पहुँच जाने पर भी किञ्चित्मात्र सुख उपलब्ध नहीं हुआ है — ये बहुचर्चित छन्द भी इसी ढाल में आए हैं।

अज्ञानी जीव, करोड़ो जन्मों में जितने कर्मों की निर्जरा करता है, ज्ञानी त्रिगुप्ति के बल से उतने कर्मों का क्षणमात्र में नष्ट कर देता है — यह छन्द तो मानों प्रवचनसार गाथा 238 का अनुवाद ही है। मूल गाथा एवं छन्द इस प्रकार है —

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण॥
कोटि जन्म तप तपै, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी कें छिन में, त्रिगुप्ति तें सहज टरैं ते॥ 4/5॥

इस प्रकार सम्यग्ज्ञान का निरूपण करने के उपरान्त सम्यक्चारित्र धारण करने की प्रेरणा देकर, चारित्र के देशचारित्र एवं सकलचारित्र भेद बताये गये हैं। देशचारित्र पाँचवे गुणस्थान में श्रावक को और सकलचारित्र छठवें-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनिराज को होता है।

श्रावकाचार के वर्णन में अहिंसादि पाँच अणुव्रतों, तीन गुणव्रतों और चार शिक्षाव्रतों का संक्षिप्त, किन्तु सारभूत वर्णन कवि की अजब-गजब काव्यप्रतिभा को प्रदर्शित करता है। इस वर्णन में जिनागम के लगभग सभी श्रावकाचारों का वर्णन समाहित हो जाता है।

इसी ढाल में जगत के समस्त द्वंद्व-फन्दों का परित्याग करके, निज आत्मस्वभाव के ध्यान करने की भाववाही प्रेरणा विशेष अनुप्रेक्षणीय है। अनर्थदण्डों का वर्णन भी पापों की भीषण ज्वाला से बचने की पावन प्रेरणा देता प्रतीत होता है।

अन्त में श्रावकदशा के फल का वर्णन करते हुए कहा गया है कि वीतरागभाव की पूर्ण साधना के अभाव में, श्रावक उसी भव से मुक्ति प्राप्त नहीं करता; वह सोलहवें स्वर्ग तक का देवपद प्राप्त करता है और वहाँ से चयकर, मनुष्यभव प्राप्त करके, मुनिधर्म अङ्गीकार करके, स्वरूपसाधना की परिपूर्णता से मुक्तदशा को प्राप्त करता है।

पाँचवी ढाल में मुनिधर्म धारक जीव के द्वारा भावित वैराग्यजननी बारह भावनाओं का सुन्दर विवेचन किया है। इसके परिशीलन से ज्ञात होता है कि लेखक ने बारह भावनाओं सम्बन्धी उपलब्ध अनेक ग्रन्थों का गहरा अध्ययन किया है। इस ढाल के प्रत्येक छन्द में वैराग्य और तत्त्वज्ञान का सुन्दर सुमेल दृष्टिगोचर होता है।

बारह भावनाओं के चिन्तन का फल समरस की उत्पत्ति बताया गया है और इन्हें भानेवाले सन्तों को बड़भागी कहा गया है। ध्यान रहे, इन वैराग्यजननी बारह भावनाओं का चिन्तवन

गृहस्थदशा में भी उपयोगी है। सभी तीर्थङ्कर होनेवाले जीव, वैराग्य के अवसर पर इनका चिन्तन करके ही मुनिधर्म अङ्गीकार करते हैं।

अन्त में मुनिधर्म के निरुपण की प्रतिज्ञा के साथ इस ढाल का समापन किया गया है।

छठवीं ढाल में मुनिधर्म के अन्तर्बाह्य स्वरूप का विवेचन किया गया है। इसके अन्तर्गत अहिंसादि पाँच महाव्रतों, पाँच समितियों, छह आवश्यकों, पाँच इन्द्रियजय, शेष सात गुणों तथा तीन गुप्तियों के स्वरूप का परिचय सरलतम भाषा में दिया गया है। इसके परिशीलन से ज्ञात होता है कि रचनाकार कविवर पण्डित दौलतराम, संयम की छटापटीयुक्त एवं श्रमणाचार के प्रतिपादक मूलाचारादि ग्रन्थों के गहन अध्ययेता रहे हैं।

मुनिराज की आन्तरिक पवित्रता एवं उनकी साम्यभावमय परिणति का रोमाञ्चकारी वर्णन इस ढाल में इस प्रकार अभिव्यक्त हुआ है —

सम्यक् प्रकार निरोध मन-वच-काय, आतम ध्यावते।
तन सुथिर मुद्रा देखि मृगगण उपल खाज खुजावते॥ 6/4॥
अरि-मित्र महल-मसान कञ्चन, काँच निन्दन-थुति करन।
अर्घाउतारण असि प्रहारण में सदा समता धरन॥ 6/6॥

मुनिराज की भवतापनाशक वाणी को अमृत की उपमा से अलंकृत करते हुए, कवि के ये उद्‌गार भी वीतरागी सन्तों के चरणों में नतमस्तक होने की पावन प्रेरणा देते हैं —

भ्रम रोगहर जिनके वचन, मुखचन्द्र ते अमृत झरैं॥ 6/2॥

मुनिराज की आत्मानुभूतिरूप निर्विकल्पदशा का अद्‌भुत वर्णन तो मानो अध्यात्म से छलाछल अमृतकलश ही है। इस सम्पूर्ण वर्णन में कवि, वीतरागी सन्तों की अन्तरपरिणति का सजीव चित्रण करने में अत्यन्त सफल रहे हैं।

कविवर द्वारा प्रदत्त अध्यात्म की अमूल्य भेंट स्वरूप वे छन्द इस प्रकार हैं —

जिहि ध्यान-ध्याता-ध्येय कों न विकल्प, वच भेद न जहाँ।
चिद्भाव कर्म, चिदेश कर्ता, चेतना क्रिया तहाँ॥
तीनों अभिन्न अखिन्न सुध उपयोग की निश्चल दसा।
प्रगटी जहाँ दृग-ज्ञान-व्रत ऐ, तीनिधा एकै लसा॥ 6/9॥
परमान नय निक्षेप को न, उद्योत अनुभौ में दिसै।
दृग-ज्ञान-बल सुख में सदा, नहिं आन भाव जु मो विखै॥ 6/10॥

इसी भाव को आचार्य अमृतचन्ददेव ने समयसार कलश में भी अभिव्यक्त किया है —

उदयति न नयश्रीरस्तमेति प्रमाणं
क्वचिदपि च न विद्मो याति निक्षेपचक्रम्।
किमपरमभिदध्मो धाम्नि सर्वंकषेऽस्मि-
न्ननुभवमुपयाते भाति न द्वैतमेव॥ *– समयसार, कलश 9*

इस प्रकार मुनिराज की उत्कृष्ट शुद्धोपयोगदशा का वर्णन करके, इसके फल में प्राप्त होनेवाली अरहन्त और सिद्धदशा का वर्णन किया गया है।

अन्त में कवि ने उन जीवों को धन्यवाद ज्ञापित किया है, जिन्होंने मनुष्यभव प्राप्त करके शुद्धोपयोग और उसका फल प्राप्त किया है। साथ ही त्रिकाल में मुक्ति का यही एक मार्ग है; इसके अतिरिक्त अन्य मार्ग नहीं है – यह भाव भी सशक्त स्वर में अभिव्यक्त हुआ है।

ग्रन्थ का समापन करने से पूर्व, करुणापूर्ण हृदय से कवि अपने पाठकों को रागरूपी आग से बचने, परपद को तजने एवं निजपद को भजने की प्रेरणा देते हुए कहते हैं —

कहा रचौ पर पद में, न तेरौ पद यहै, क्यौं दुःख सहै।
अब 'दौल'! होउ सुखी सुपद-रचि, दाव मति चूक यहै॥ 6/15॥

यह छन्द भी समयसारकलश 138 की प्रतिछाया ही है, जो इस प्रकार है —

आसंसारात्प्रतिपदममी रागिणो नित्यमत्ताः
सुप्ता यस्मिन्नपदमपदं तद्विबुध्यध्वमंधाः।
एतैतेतः पदमिदमिदं यत्र चैतन्यधातुः
शुद्धः शुद्धः स्वरसभरतः स्थायिभावत्वमेति॥

अन्त में ग्रन्थ रचना-काल विक्रम संवत् 1891 एवं ग्रन्थ रचना की प्रेरक कविवर बुधजन कृत छहढाला का उल्लेख करके, पण्डितप्रवर दौलतराम ने अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए बुद्धिमान धर्मात्माओं से इस ग्रन्थ मे यदि कोई अशुद्धियाँ रही हों, तो उन्हें सुधारने का विनम्र अनुरोध किया है। यह उनकी विनम्रता का सुन्दर उदाहरण है।

छहढाला की इस सम्पूर्ण विषय वस्तु के अनुशीलन से सहजसिद्ध है कि कवि जिनागम के चारों अनुयोगों के सन्तुलित अध्ययेता तो हैं ही, साथ ही संक्षेप में बहुत कहने की सामर्थ्यता से पूर्ण सफल कवि भी हैं। इस ग्रन्थ में समयसार, प्रवचनसार, पञ्चास्तिकाय, परमात्मप्रकाश, समाधितन्त्र, नियमसार, तत्त्वार्थसूत्र, कार्तिकेयानुप्रेक्षा, वारस अणुवेक्खा, मोक्षमार्गप्रकाशक, श्रावकाचार एवं श्रमणाचार सम्बन्धी ग्रन्थों इत्यादि का प्रभाव स्पष्ट परिलाक्षित होता है। यही कारण है कि जहाँ इस कृति के बालबुद्धि जीव लाभान्वित हुए है, वहीं जिनागम के गहन अभ्यासी विद्वानों ने भी इस कृति का भरपूर उपयोग किया है।

वर्तमान शताब्दी के बहुचर्चित व्यक्तित्व प्रत्यक्ष उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने तो इस सम्पूर्ण ग्रन्थ पर आद्योपान्त प्रवचन किये हैं, जो लगभग 1200 पृष्ठों में छह भागों में प्रकाशित हो चुके हैं।

इस ग्रन्थ के सन्दर्भ में कतिपय मनीषियों के निम्न उद्‌गार इसकी महत्ता को दर्शाने के लिए पर्याप्त हैं —

— पण्डित श्री दौलतरामजी ने अपनी शक्ति अनुसार शास्त्रों का निचोड़ करके, इस छहढाला में गागर में सागर की तरह भर दिया है। पूर्वाचार्यों के कथनानुसार शास्त्र के रहस्यों की बहुत बातें इसमें डाल दी हैं। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

— गागर में सागर भर दिया है। *- क्षुल्लक गणेशप्रसाद वर्णी*

— छहढाला ने कवि को अमर बना दिया है। *- हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन*

— आध्यात्मिक जैन साहित्य का यह जगमगाता रत्न है। *- पण्डित नेमीचन्द पटोरिया*

— यह वह कृति है, जिसे पढ़कर पाठक निजानन्द–रस में मग्न हो जाता है।

- पण्डित परमानन्द जैन

— अनेक आगमों का मन्थन कर 'छहढाला' का निर्माण हुआ है।

- पण्डित दरबारीलाल कोठिया

— भाव, भाषा और अनुभूति की दृष्टि से यह रचना बेजोड़ है। *- श्री नेमीचन्द शास्त्री, आरा*

— दौलतरामजी प्रबुद्ध, आध्यात्मिक, प्रकृति के अन्त:स्तल के अन्तर्दृष्टा कवि हैं।

- पण्डित सुमेरचन्द्र दिवाकर

— कवि दौलतरामजी के कारण माँ भारती का मस्तक उन्नत हुआ है।

- हिन्दी जैन साहित्य परिशीलन

दिगम्बर जैन समाज द्वारा सञ्चालित सभी जैन परीक्षा बोर्ड में इस ग्रन्थ को सम्मानपूर्वक शामिल किया गया है और हजारों परीक्षार्थी प्रतिवर्ष इसकी परीक्षा में सम्मलित होते हैं, यह भी इसकी लोकप्रियता का परिचायक है।

छहढाला का प्रस्तुत सम्पादित संस्करण

यद्यपि गागर में सागर तुल्य प्रस्तुत ग्रन्थ छहढाला अनेक मनीषी विद्वानों के हिन्दी आदि भाषा अनुवादसहित अनेक संस्थाओं से लाखों की संख्या में प्रकाशित हो चुका है, तथापि उन सब प्रकाशनों में पाठान्तर दृष्टिगोचर होते रहे हैं। इस कारण वयोवृद्ध विद्वान एवं **तीर्थधाम मङ्गलायतन** के सूत्रधार पण्डित कैलाशचन्द जैन, अलीगढ़ ने इसके सम्पादित संस्करण की

भावना व्यक्त की। उनकी भावनानुसार इसका सम्पादन कार्य विभिन्न प्रतियों के आधार पर सम्पन्न हुआ, जिसका संक्षिप्त विवरण यहाँ प्रस्तुत है—

(1) दिगम्बर जैन मन्दिर, अलीगढ़ से प्राप्त हस्तलिखित प्रति, विक्रम संवत् 1944 आषाढ़ सुद चौथ शुक्रवार, लिपिकार दीपचन्द ब्राह्मण, फिरोजाबाद।

(2) जैन पुस्तक भण्डार, कलकत्ता से प्रकाशित प्रति।

(3) कुन्दकुन्द भारती, दिल्ली से प्रकाशित प्रति।

(4) दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ से प्रकाशित प्रति।

(5) पण्डित टोडरमल स्मारक ट्रस्ट, जयपुर से प्रकाशित प्रति।

(6) दिगम्बर जैन श्रमण संस्कृति संस्थान, सांगानेर से प्रकाशित प्रति।

(7) श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर, दिल्ली से प्रकाशित प्रति।

(8) सरल जैन ग्रन्थ भण्डार, जबलपुर से प्रकाशित प्रति।

इस प्रकार एक हस्तलिखित एवं सात मुद्रित प्रतियों के आधार पर इस संस्करण के मूल पाठ का सम्पादन-संशोधन किया गया है। इस सम्पादन में श्री दिगम्बर जैन मन्दिर, अलीगढ़ से प्राप्त 118 वर्ष प्राचीन हस्तलिखित प्रति के मूल पाठ को मुख्य आधार माना गया है, एवं कलकत्ता से प्रकाशित प्रति सर्वाधिक शुद्ध दृष्टिगोचर हुई है।

हमारा प्रयास रहा है कि लेखक की मूल भाषा में किसी प्रकार का कोई परिवर्तन नहीं किया जाए; अत: अन्य प्रचालित महत्त्वपूर्ण पाठान्तर भी दे दिये गये हैं। साथ ही इस ग्रन्थ के अन्त में मूल हस्तलिखित प्रति को स्केन करके ज्यों का त्यों प्रकाशित किया गया है।

इस सम्पादन से प्रचलित शब्दों में यत्किञ्चित् परिवर्तन होने से अन्वयार्थ में भी अपेक्षित संशोधन किया गया है।

प्रस्तुत संस्करण में हिन्दी प्रकाशन हेतु मु.श्री रामजीभाई माणेकचन्द दोशी की टीका मे समागत भावार्थ एवं विशेष स्पष्टीकरण को मुख्य आधार बनाया गया है किन्तु उसमें भी भाषात्मक दृष्टि से आवश्यक संशोधन किया गया है। भावार्थ के बड़े-बड़े पेराग्राफको छोटा किया गया है। आवश्यकतानुसार प्रश्नोत्तर पद्धति को भी अपनाया गया है। कुल मिलाकर भाषा को प्रवाहमयी बनाने का प्रयास किया गया है। आवश्यकतानुसार कुछ मेटर बढ़ाया भी गया है।

पूर्व प्रकाशित टीका में जिन स्थलों को पादटिप्पण में दिया गया था, उन्हें आवश्यकतानुसार भावार्थ में शामिल कर दिया गया है।

इसी प्रकार कलकत्ता, ब्यावर, सोनगढ़ एवं जयपुर के प्रकाशित सचित्र छहढाला के आधार पर एवं कुछ चित्रों में विषयवस्तु के आधार पर नयापन दिया गया है।

प्रत्येक छन्द पर शीर्षक न देकर उसमें आनेवाली विषय वस्तु को उत्थानिका के रूप में प्रस्तुत किया गया है।

आभार प्रदर्शन

इस ग्रन्थ का सम्पादित संस्करण प्रस्तुत करते हुए, सर्व प्रथम वीतरागी देव-शास्त्र-गुरु के श्रीचरणों में वन्दन करता हूँ क्योंकि यह सब उन्हीं की भवतापनाशक वाणी का प्रसाद है।

ग्रन्थकार पण्डित दौलतराम के प्रति भी इस अवसर पर नतमस्तक हूँ।

परम उपकारी पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, जिन्होंने छहढाला पर मङ्गल प्रवचन प्रदान करके, इसका अद्भुत रहस्य स्पष्ट किया, के श्री चरणों में विनम्र वन्दन करता हूँ।

आदरणीय गुरुवर्य्य पण्डित कैलाशचन्द जैन, अलीगढ़, जिनके चरण सान्निध्य में इस ग्रन्थ को पढ़ने का सुअवसर प्राप्त हुआ, उनके श्री चरणों में विनम्र भावसुमन समर्पित हैं।

आदरणीय अग्रज श्री पवन जैन, जिन्होंने इस ग्रन्थ के सम्पादन का कार्य सौंपने के साथ ही प्रतिकूल शारीरिक परिस्थिति की दशा में भी संशोधनादि कार्य को जाँचने आदि में अत्यधिक श्रम किया, समुचित मार्गदर्शन दिया और इसकी प्रस्तावना लिखने का सुअवसर प्रदान किया तथा पण्डित राकेश जैन शास्त्री, जैनदर्शनाचार्य, जिन्होंने इस सम्पादित संस्करण को जाँचने आदि कार्य में पर्याप्त सहयोग प्रदान किया, हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ। चित्र संयोजन के लिए पण्डित अशोक लुहाड़िया एवं पण्डित संजय जैन शास्त्री के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

हस्तलिखित प्रति के लेखक, पूर्व प्रकाशित प्रतियों के सम्पादकों /प्रकाशकों के प्रति भी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

समस्त साधर्मी पाठकों, आदरणीय विद्वानों से यह अनुरोध है कि इस सम्पादित संस्करण में कोई त्रुटि दृष्टिगोचर हो तो सूचित करने का अनुग्रह करे, जिससे आगामी संस्करण में अपेक्षित सुधार किया जा सके।

सभी आत्मार्थीजन इस महा मङ्गलमय ग्रन्थ के अध्ययन द्वारा निज स्वरूप की साधना में गतिमान हो — इसी भावना से विराम लेता हूँ।

देवेन्द्रकुमार जैन
तीर्थधाम मङ्गलायतन
अलीगढ़ (उ.प्र.)

दिनाङ्क : 01 फरवरी 2010

प्र स्ता व ना

अध्यात्मप्रेमी कविवर पण्डित दौलतरामजी रचित

छहढाला

(मूलपाठ एवं पाठान्तर)

पहली ढाल

॥ सोरठा ॥

तीनि[१] भुवन में सार, वीतराग विज्ञानता।
शिवसरूप शिवकार, नमों त्रियोग समारिकर॥[२]

॥ चौपाई ॥

जे त्रभुवन[३] में जीव अनन्त, सुख चाहैं दुःख तें भयवन्त।
तातें दुःखहारी सुखकार, कहैं सीख गुरु करुणा धार॥ १॥

ताहि सुनौ भवि थिर मन आन, जौ चाहौ अपनों कल्यान।
मोह महामद पिऔ[४] अनादि, भूलि आपकौ भरमत वादि॥ २॥

तासु[५] भ्रमन की है बउ कथा, पै कछु कहौ कही मुनि जथा।[६]
काल अनन्त निगोद मँझार, बीत्यौ इक इन्द्री तन धार॥ ३॥

एक सांस में अठ-दस बार, जन्मौ मरौ भरौ दुःखभार।
निकसि भूमि जल पावक भयौ, पवन प्रत्येक वणस्पति थयौ॥ ४॥

दुर्लभ लहि ज्यौं चिन्तामणी, त्यौं पर्जाय लही त्रसतणी।
लट पिपीलि अलि आदि शरीर, धरि-धरि मर्यौ सही बहु पीर॥ ५॥

कबहूँ पंचेन्द्रीय पशु भयौ, मन बिन निपट अज्ञानी थयौ।
सिंहादिक सैनी ह्वै क्रूर, निबल पसू हति खाये भूर॥ ६॥

कबहूँ आप भयौ बलहीन, सबलनि करि खायौ अतिदीन।
छेदन-भेदन भूख-पियास, भार वहन हिम-आतप त्रास॥ ७॥

बध बन्धन आदिक दुःख घनें, कोटि जीभ तें जात न भनें।
अति संक्लेश भाव तें मरौ, घोर सुभ्रसागर में परौ॥ ८॥

तहाँ भूमि परसत दुःख इसौ, बीछू सहस [७]डसत तन तिसौ।
तहाँ राधि-श्रोणित वाहिनी, कृमि-कुल कलित देह दाहिनी॥ ९॥

सेवरतरु दलजुत असिपत्र, असि ज्यौं देह विदारैं तत्र।
मेरु-प्रमान[८] लोह गलि जाय, ऐसी सीत-उष्णता थाय॥ १०॥

तिल-तिल करैं देह के खंड, असुर भिड़ावैं दुष्ट प्रचंड।
सिन्धु-नीर तें प्यास न जाय, तौ पन एक बूँद न लहाय॥ ११॥

तीनि[९] लोक कौ अन्न[१०] जु खाय, मिटै न भूख कणा न लहाय।
ए दुःख बहु सागर लौं सहै, करम जोग तें नरभव[११] लहै॥ १२॥

जननी उदर वसौ नव मास, अंग सकुच तें पाई त्रास।
निकसत जे दुःख पाये घोर, तिनकौ कहत न आवै और॥ १३॥

बालपने में ज्ञान न लह्यौ, तरुण समै[१२] तरुणी-रति रह्यौ।
अर्धमृतक-सम बूढ़ापनौ, कैसे रूप लखै आपनौ॥ १४॥

कभी अकाम निर्जरा करै, भवनत्रक[१३] में सुरतनु[१४] धरै।
विषय-चाह दावानल दह्यौ, मरत विलाप करत दुःख सह्यौ॥ १५॥

जो विमानवासी हू थाय, सम्यक्‌दर्शन बिन दुःख पाय।
तहाँ[१५] तें चय थावर तन धरै, यों परवर्तन[१६] पूरे करै॥ १६॥

दूसरी ढाल

॥ पद्धरि छन्द ॥

ऐसे मिथ्या दृग्-ज्ञान-चरणवश, भ्रमत भरत दुःख जन्म-मरण।
तातें इनकूं तजिये सुजान, सुनि तिस संक्षेप कहूँ बखानि॥ १॥

जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व, सरधैं तिनमाहिं विपर्ययत्व।
चेतन कौ है उपयोग रूप, बिनमूरति चिन्मूरति अनूप॥ २॥

पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतें न्यारी है जीव चाल।
ताकूँ[1] न जानि[2] विपरीत मान, करि करैं देह में निज पिछानि॥ ३॥

मैं सुखी-दुःखी मैं रंक-राव, मेरौ[3] धन-गृह-गोधन प्रभाव।
मेरे सुत-त्रिय मैं सबल-दीन, बेरूप-सुभग मूरख-प्रवीन॥ ४॥

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नसत आपकूं[4] नास मान।
रागादि प्रगट जे[5] दुःख दैन, तिनही कूं सेवत गिनत चैन॥ ५॥

सुभ-असुभ बन्ध के फल मँझार, रति-अरति करैं निजपद विसार।
आतम हित हेतु विराग ज्ञान, ते लखैं आपकूं कष्ट दान॥ ६॥

रोकी[6] न चाह निज शक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय।
याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान, सो दुःखदाई[7] अज्ञान जान॥ ७॥

इन जुत विषयनि की[8] जो प्रवृत्ति[9], ताकूं[10] जानों मिथ्याचरित्त।
यों मिथ्यात्वादि निसर्ग एह[11], अब जे गृहीत सुनिये जु तेह॥ ८॥

जे कुगुरु कुदेव कुधर्म सेव, पोषैं चिर दर्शनमोह एव।
अन्तर रागादिक धरैं जेह, बाहिर धन अम्बर तें सनेह॥ ९॥

धारैं कुलिंग लह महत भाव, ते कुगुरु जन्म जल उपल-नाव।
जे राग-द्वेष मल करि मलीन, वनिता गदादिजुत चिह्न चीन॥ १०॥

ते हैं कुदेव तिनकी जु सेव, सठ करत न तिन भवभ्रमन छेव।
रागादि भाव-हिंसा समेत, दरवित त्रस थावर मरण खेत॥ ११॥

जे क्रिया तिनहि[१२] जानहु कुधर्म, तिन सरधैं जीव लहै अशर्म।
याकूँ गृहीत मिथ्यात जान, अब सुन गृहीत जो है अज्ञान॥ १२॥

एकान्तवाद दूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रशस्त।
रागी कुमतिन कृति श्रुति अभ्यास[१३], सो है कुबोध बहु देन त्रास॥ १३॥

जो ख्याति लाभ पूजादि चाह, धरि करत विविधि विधि देह दाह।
आतम अनात्म के ज्ञान हीन, जे जे करनी तन करन क्षीन॥ १४॥

ते सब मिथ्याचारित्र त्यागि[१४], अब आतम के हित पंथ लागि।
जगजाल भ्रमण कों देय[१५] त्यागि[१६], अब दौलत! निज आतम सुपागि[१७]॥ १५॥

तीसरी ढाल

॥ नरेन्द्र छन्द ॥ (जोगीरासा)

आतम को हित है सुख, सो सुख आकुलता बिनु[१] कहिये।
आकुलता शिवमाहि न तातें, शिवमग लागौ चहिये॥
सम्यक्‌दर्शन-ज्ञान-चरण, शिवमग सो दुविध[२] विचारो।
जो सत्यारथ रूप[३] सुनिश्चय, कारन सो व्यवहारो॥ १॥

परद्रव्यन तें भिन्न आप में, रुचि सम्यक्त भला है।
आपरूप को जानपणों सो, सम्यक्‌ज्ञान कला है॥
आपरूप में लीन रहे थिर, सम्यक्‌चारित सोई।
अब व्यवहार मोखमग सुनियै, हेतु नियत कौ होई॥ २॥

जीव अजीव तत्त्व अरु आस्रव, बन्ध रु संवर जानों।
निर्जर मोख[४] कहै जिन तिनकों, जों कौ सौं सरधानों॥
है सोई समकित व्यवहारी, अब इन रूप बखानों।
तिनकूं सुनि सामान्य विशेषै, दिढ़ प्रतीति उर आनौ॥ ३॥

बहिरातम, अन्तर-आतम, परमातम जीव त्रिधा है।
देह जीव कूं एक गिनें बहिरातम तत्त्व मुधा है॥
उत्तम मध्य[५] जघन्य[६] त्रविधि[७] के, अन्तर-आतम ज्ञानी,
दुविध संग बिनु[८] सुध उपयोगी, मुनि उत्तम निज ध्यानी॥ ४॥

मध्यम अन्तर-आतम हैं जे, देशव्रती आगारी।[९]
जघन्य कहै अविरत-समदिष्टी[१०], तीनौ शिवमगचारी॥
सकल निकल परमातम द्वै विधि, तिनमें घाति निवारी।
सो[११] अर्हन्त सकल परमातम, लोकालोक निहारी॥ ५॥

ज्ञानशरीरी त्रिविधि कर्ममल, वर्जित सिद्ध महन्ता।
ते हैं निकल अमल परमातम, भोगैं शर्म अनन्ता॥
बहिरातमता हेय जानि तजि, अन्तर-आतम हूजै।
परमातम कूं ध्याय निरन्तर, जौ निज आनन्द पूजै॥ ६॥

चेतनिता बिनु सो अजीव है, पंच भेद जाके[१२] हैं।
पुद्गल पंच वरण, रस, गंध-दु, फरस वसु ताके[१३] हैं॥
जिय पुद्गल कूं चलत सहाई, धर्मद्रव्य अनुरूपी।
तिष्ठत होत सहाई अधरम[१४], जिन बिन-मूर्ति निरूपी॥ ७॥

सकल द्रव्य कौ वास जास में, सो आकास पिछानौं।
निअत[१५] वर्तना निसदिन सो, व्यवहारकाल परिवानौ॥
यों अजीव, अब आस्रव सुनियें, मन-वच-काय त्रियोगा।
मिथ्या अविरत अरु कषाय, परमाद सहित उपयोगा॥ ८॥

ये ही आतम कौ दुःख-कारण, तातें इनकूं तजिये।
जीव प्रदेश बँधै विधि सौं सो, बंधन कबहूँ न सजिये॥
सम-दम तें जो कर्म न आवैं, सो संवर आदरिये।
तपबल तें विधि-झरन निर्जरा, ताहि सदा आचरिये॥ ९॥

सकल कर्म तें रहित अवस्था, सो सिव थिर सुखकारी।
इहि विधि जो सरधा तत्त्वनि की, सो समकित व्यवहारी॥
देव जिनेन्द्र, गुरु परिग्रहबिन, धर्म दयाजुत सारौ।
यहू जानि[१६] समकित कौ कारण, अष्ट अंगजुत धारौ॥ १०॥

वसु मद टारि, निवारि त्रिसठता, षट् अनायतन त्यागौ।
संकादिक वसु दोष बिना, संवेगादिक चित्त पागौ॥
अष्ट अंग अरु दोष पचीसौं, तिन संक्षेप कहियै।
बिन जाने ते दोष गुनन कौं, कैसे तजियै गहियै॥ ११॥

जिन वच में संका न धार, वृष भव-सुख-वाँछा भानौ।[१७]
मुनि-तन मलिन देख न[१८] घिनावै, तत्त्व-कुतत्त्व पिछानौ॥[१९]

निज गुण अरु पर औगुण ढाकै, वा निजधर्म बढ़ावै।
कामादिक करि वृष तें चिगते, निज-पर कौं सु दिढ़ावै॥ १२॥

धर्मी सौ गौ-वच्छ-प्रीति सम, करि जिनधर्म दिपावै।
इन गुण तें विपरीत दोष वसु, तिनकौं संत[२०] खिपावै॥
पिता भूप वा मातुल नृप जौ, होइ न तौ मद ठानें।
मद न रूप कौ मद न ज्ञान कौ, धन बल कौ मद भानें॥ १३॥

तप कौ मद न, मद न प्रभुता कौ, करै न सो निज जानें।
मद धारै तौ यही दोष वसु, सम्यक कूं मल ठानें॥
कुगुरु-कुदेव-कुवृष सेवक की नहीं प्रसंस उचरै है।
जिन मुनि जिनश्रुत बिनु कुगुरादिक, तिनहि[२१] न नमन करै है॥ १४॥

दोषरहित गुणसहित सुधी जे, सम्यकदर्श सजै हैं।
चारित मोहवस लेश न संजम, पै सुरनाथ जजै हैं॥
गेही, पै गृह में न रचै जौं, जल तें भिन्न कमल है।
नगरनारि कौ प्यार जथा, कादा में हेम अमल है॥ १५॥

प्रथम नर्क विन षट् भू जोतिस[२२], वाण[२३] भवन सँढ़ नारी।
थावर विकलत्रय पशु में नहीं, उपजत सम्यक्धारी॥
तीनि[२४] लोक तिहुँ काल माहिं नहीं, दर्शन सौ सुखकारी।
सकल धर्म कौ मूल यही, इस बिन करनी दुःखकारी॥ १६॥

मोखमहल[२५] की प्रथम सिडी है[२६], याबिन ज्ञान चरित्रा।
सम्यक्ता न लहै, सोई[२७] दर्शन, धारो भव्य पवित्रा॥
'दौल' समझ सुनि[२८] चेत सयानें, काल वृथा मति खोवै।
यह नरभव फिरि[२९] मिलन कठिन है, जौ सम्यक् नहीं होवै॥ १७॥

चौथी ढाल

॥ दोहा ॥

सम्यक् श्रद्धा धार पुनि, सेवहु सम्यक्ज्ञान।
स्व-पर अर्थ बहु धर्मजुत, जौ प्रगटावन भान॥ १॥

॥ रोला छन्द ॥

सम्यक् साथै ज्ञान होइ, पै भिन्न अराधौ।
लक्षण श्रद्धा जानि[१], दुहून[२] में भेद अबाधौ॥
सम्यक् कारण जानि, ज्ञान कारज है सोई।
युगपति[३] होते भी, प्रकास दीपक तें होई॥ २॥

तासु भेद द्वै हैं, परोक्ष परतक्ष[४] तिनमाहीं।
मति श्रुति दोय परोक्ष, अक्ष मन तें उपजाहीं॥
अवधिज्ञान मनपर्यय, ये हैं देशप्रतक्षा।
द्रव्य क्षेत्र परमाण[५] लिये, जानें जिय स्वक्षा॥ ३॥

सकल द्रव्य के गुण अनन्त, पर्याय अनन्ता।
जानें एकै काल, प्रघट[६] केवलभगवन्ता॥
ज्ञान समान न आन, जगत में सुख कौ कारण।
यह परमामृत जन्म-जरा-मृत[७] रोग निवारण॥ ४॥

कोटि जन्म तप तपै, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी कें छिन में, त्रिगुप्ति तें सहज टरैं ते॥
मुनिव्रत धारि[८] अनन्तबार, ग्रैवक[९] उपजायौ।
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ॥ ५॥

तातें जिनवर कथित, तत्त्व अभ्यास करीजै।
संसय विभ्रम मोह त्यागि, आपौ लखि लीजै॥
यह मानुष पर्जाय, सुकुल, सुनिवौ जिनवानी।
यह विधि गये न मिलै, सुमणि जौ उदधि समानी॥ ६॥

धन समाज गज बाज, राज तो काज न आवै।
ज्ञान आपकौ रूप भयौ[१०], थिर[११] अचल रहावै॥
तासु ज्ञान को कारण, स्व-पर विवेक बखानौं।
कोटि उपाय बनाय भव्य, ताकौं उर आनौ॥ ७॥

जे पूरब शिव गये, जाहि अरु आगे जे हैं।
ते सब ज्ञानतनी महिमा, मुनिनाथ कहै हैं॥
विषय-चाह दव दाह, जगतजन अरन[१२] दझावै।
तासु उपाय न आन, ज्ञान घनघान बुझावै॥ ८॥

पुन्य-पाप फलमाहि, हरख बिलखौ मति भाई।
यह पुद्‌गल पर्जाय, उपजि बिनसै थिर[१३] थाई॥
लाख बात की बात यहै, निश्चै उर लावौ।
तोरि सकल जग धंध[१४]-फंद, नित आतम ध्यावौ॥ ९॥

सम्यक्ज्ञानी होय, बहुरि दिढ़ चारित लीजै।
एकदेश अर सकलदेश, तसु भेद कहीजै॥
त्रस हिंसा कौ त्याग, वृथा थावर ण संघारै।
पर-वधिकार कठोर निंद, नहीं बैन उचारै॥ १०॥

जल-मृतिका विन और नहीं कछु ग्रहै अदत्ता।
निज वनिता बिन सकल नारि सौं रहै विरक्ता॥
अपनी शक्ति प्रमाण[१५], परिग्रह थोरौ राखै।
दश दिश गमन प्रमाण गनि[१६], तसु सीम न नाखै॥ ११॥

ताहू में फिरि ग्राम गली, गृह बाग बजारा।
गमनागमन प्रमान ठानि, अनि सकल निवारा॥
काहू कैं[१७] धन हानि, किसी जय हार न चित्तैं।[१८]
देइ न सो उपदेश, होय अघ वनिज कृषी तें॥ १२॥

करि प्रमाद जल भूमि, वृक्ष पावक न विराधै।
असि धनु हल हिंसोपकरण, नहि दे जस लाधै॥
राग-द्वेष करतार, कथा कबहूँ न सुनीजै।
औरहु अनरथ दंड, हेत अघ तिनें न कीजै॥ १३॥

धरि उर समताभाव, सदा सामायक[१९] करियै।
पर्व चतुष्टय माहि, पाप तजि प्रोषध धरियै॥
भोग और उपभोग, नियम धरि[२०] ममत निवारै।
मुनि कौं भोजन देय फेरि, निज करै[२१] अहारै॥ १४॥

बारह व्रत के अतीचार, पन पन न लगावै।
मरण-समय सन्यास धारि, तसु दोष नसावै॥
यौं श्रावक-व्रत पालि, स्वर्ग सोलम उपजावै।
तहाँ तें चय नर जन्म पाय, मुनि ह्वै सिव पावै[२२]॥ १५॥

पाँचवीं ढाल

॥ चाल छन्द ॥

मुनि सकलव्रती बडभागी, भव-भोगन तें वैरागी।
वैराग उपावन माही[१], चिंतवौ[२] अनुप्रेक्षा भाई ॥ १ ॥

इम चिन्तत समरस[३] जागै, जिमि ज्वलन पवन के लागै।
जब ही जिय आतम जानै, तब ही जिय शिवसुख ठानै ॥ २ ॥

जोवन धन गोधन नारी, हय गय जन आग्याकारी।
इन्द्रिय-भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई ॥ ३ ॥

सुर असुर खगाधिप जेते, जों मृग हरि काल दले ते।
मणि मन्त्र तन्त्र बहु होई, मरते न बचावै कोई ॥ ४ ॥

चहु गति दुःख जीव भरै हैं, परवर्तन पंच करै हैं।
सब विधि संसार असारा, जामें[४] सुख नाहि लगारा ॥ ५ ॥

सुभ असुभ कर्मफल जेतें, भोगे जिय एकहि ते ते।
सुत दारा होइ न सीरी, सब स्वारथ के हैं भीरी ॥ ६ ॥

जल-पय जौं जिय-तन मेला, पै भिन्न-भिन्न नहीं भेला।
तो प्रघट[५] जुदे धन धामा, क्यों ह्वै इक मिलि सुत रामा ॥ ७ ॥

पल-रुधिर राधि[६]-मल थैली, कीकस वसादि तें मैली।
नव द्वार बहैं घिनकारी, अस देह करे किमि यारी ॥ ८ ॥

जो जोगनि की चपलाई, तातें आस्रव ह्वै भाई।
आस्रव दुःखकार घनेरा[७], बुधवन्त तिनें निरवेरा[८] ॥ ९ ॥

जिन पुन्य-पाप नहीं कीना, आतम अनुभौ[९] चित दीना।
तिन ही विधि आवत रोकै, संवर गहि[१०] सुख अवलोके ॥ १० ॥

निज काल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना।
जो तप करि कर्म खिपावै, सोई सिवसुख दरसावै ॥ ११ ॥

किनहूं न करौ न धरै को, षट् द्रव्यमयी न हरै को।
सो लोकमाहि बिनु समता, दु:ख सहै जीव नित भ्रमता ॥ १२ ॥

अंतिम-ग्रीवक लौ की हद, पायौ अनन्त विरियाँ पद;
पै सम्यक्ज्ञान न लाधौ, दुर्लभ निज में मुनि साधौ ॥ १३ ॥

जे[११] भाव मोह तें न्यारे, दृग-ज्ञान-व्रतादिक सारे।
ते[१२] धर्म जबै जिय धारे, तब ही सुख अचल निहारे ॥ १४ ॥

सो धर्म मुनिन कर धरियै, तिनकी करतूति[१३] उचरियै।
ताकौं सुनि कैं भव प्राणी, अपनी अनुभूति पिछानी ॥ १५ ॥

छठवीं ढाल

॥ हरिगीत छन्द ॥

षट् काय जीव न हनन तें, सब विधि दरब हिंसा टरी।
रागादि भाव निवार तें, हिंसा न भावित अवतरी॥
जिनकें न लेश मृषा न जल, त्रण[1] हू बिना दीयौ ग्रहै।
अठदश सहस विधि शील धर, चिद्ब्रह्म में नित रमि रहै॥ १ ॥

अन्तर चतुर्दश भेद बाहिर, संग दसधा तें टलै।
परमाद तजि चउकर[2] मही लखि, समिति ईर्या तें चलै।
जग-सुहितकर सब अहितहरि[3], श्रुत[4] सुखद सब संसै हरै।
भ्रम रोगहर जिनकौ[5] वचन, मुखचन्द्र तें अमृत झरैं॥ २ ॥

छयालीस दोष बिना सकुल, श्रावक तनें घर अशन कौं।
लै तप बढ़ावन हेत, नहिं तन पोषते तजि रसन कौं॥
सुच[7] ज्ञान संजम[8] उपकरण, लखि कैं ग्रहैं लखि कैं धरैं।
निर्जन्तु थान विलोकि तन, मल-मूत्र श्लेषम परिहरैं॥ ३ ॥

सम्यक् प्रकार निरोध मन-वच-काय, आतम ध्यावते।
तन सुथिर मुद्रा देखि मृगगण, उपल खाज खुजावते॥
रस-रूप-गंध तथा फरस, अर शब्द सुभ असुहावनें।
तिनमें न राग विरोध, पंचेन्द्री-जयन पद पावने॥ ४ ॥

समता सम्हारें, थुति उचारैं, वन्दना जिनदेव कौ।
नित करैं श्रुत-रति करैं प्रतिक्रम, तजैं तन अहमेव कौ॥
जिनके न न्हौंन, न दन्त धोवन, लेश अम्बर आवरण।
भूमाहि पछिली रेनि में[9], कछु सयन एकासन करन॥ ५ ॥

इक बार दिन में लैं अहार, खड़े अलप निज पान में।
कचलौंच करत न डरत परीसह, सौ लगे निज ध्यान में॥
अरि-मित्र महल-मसान कञ्चन, काँच निन्दन-थुति करन।
अर्घाउतारण[१०] असि प्रहारण, में सदा समता धरन॥ ६॥

तप तपैं द्वादश, धरैं वृष दश, रत्नत्रय सेवें सदां।
मुनि साथ में वा एक विचरें, चहैं नहि भव सुख कदां॥
जो है सकल संजम चरित, सुनियै स्वरूपाचरण अब।
जिस होत प्रघटै आपनी निधि, मिटै पर की प्रवृत्ति सब॥ ७॥

जिन परम पैनी सुबुधि छेंनी, डारि अन्तर भेदिया।
वरणादि अर रागादि तें, निज भाव कौं न्यारा किया॥
निजमाहि निज के हेत निजकरि, आपकौं आपौ ग्रह्यौ।
गुण-गुणी, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय मँझार, कछु भेद न रह्यौ॥ ८॥

जिहि ध्यान-ध्याता-ध्येय को न विकल्प, वच भेद न जहाँ।
चिद्भाव कर्म, चिदेश कर्ता, चेतना क्रिया तहाँ॥
तीनों अभिन्न अखिन्न सुध, उपयोग की निश्चल दसा।
प्रगटी जहाँ दृग-ज्ञान-व्रत ऐ, तीनिधा एकै लसा॥ ९॥

परमान नय निक्षेप को न, उद्योत अनुभौ में दिसै।
दृग-ज्ञान-बल सुख में सदा, नहिं आन भाव जु मो विखै॥
मैं साध्य-साधक, मैं अबाधक, कर्म अर कर्म फल तें।[११]
चिद् पिंड चंड अखंड सुगुण करंड, च्युत पुन्य फल तें[१२]॥ १०॥

यौं चिन्त निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनन्द लह्यो।
सो इन्द्र नाग नरेन्द्र वा, अहमेन्द्र कौं नाहीं कह्यो॥
तब ही सुकल ध्यानाग्नि करि, चौघाति विधि कानन दह्यौ।
सब लखौ केवलज्ञानकरि, भवि लोक कौ सिवमग कह्यौ॥ ११॥

पुण घात शेष अघात[१३] विधि, छिनमाहि अष्टम भू वसे।
वसु कर्म विनसे सुगुण वसु, सम्यक्त आदिक सब लसे॥

संसार खार अपार, पारावार तरि तीरें[१४] गये।
अविकार अकल अरूप सुध[१५], चिद्रूप अविनासी भये॥ १२॥

जिनमाहि[१६] लोक-अलोक गुण, पर्याय प्रतिबिम्बित भये।
रहिहै अनन्तानन्त काल, जथा तथा शिव परणये॥
धनि धन्य हैं जे जीव, नरभव पाय यह कारज कीया।
तिनही अनादी भ्रमन पंच प्रकार, तजि वर सुख लीया॥ १३॥

मुख्यौपचार दुभेद यौं, बडभाग रत्नत्रय धरै।
अरु धरैंगे ते शिव लहै, तिन सुजस-जल जग-मल हरै॥
इमि जानि आलस हानि साहस ठानि, यह सिख आदरौ।
जबलों न रोग जरा ग्रहै, तबलौ झटित निज हित करौ॥ १४॥

इह राग-आग दहै सदा, तातें समामृत सेईयै।
चिर भजे विषय-कषाय अब तौ, त्यागि निजपद बेईयै॥
कह रचौ पर पद में, न तेरौ पद यहै, क्यौं दुःख सहै।
अब 'दौल'! होउ सुखी सुपद[१७]-रचि, दाव मति चूकै यहै॥ १५॥

॥ प्रशस्ति ॥

इक नव वसु इक वर्ष की, तीज सुकल वैसाख।
कह्यो तत्त्व उपदेश यह, लखि बुधजन की भाख॥
लघुधी तथा प्रमाद तें, शब्द अर्थ की भूल।
सुधी सुधारि पढ़ौ सदां, जौं पावो भव कूल॥

॥ श्री वीतरागाय नमः ॥

अध्यात्मप्रेमी कविवर पण्डित दौलतरामजी कृत

छहढाला

पहली ढाल

संसार परिभ्रमण के दुःख

ग्रन्थ का प्रारम्भ करते हुए, ग्रन्थकार कविवर पण्डित दौलतरामजी वीतराग-विज्ञानता को नमस्कारपूर्वक मङ्गलाचरण करते हैं –

॥ सोरठा ॥

तीनि भुवन में सार, वीतराग विज्ञानता।
शिवसरूप शिवकार, नमों त्रियोग समारिकर॥

अन्वयार्थ – (**वीतराग**) राग–द्वेष रहित (**विज्ञानता**) केवलज्ञान (**तीनि भुवन में**) तीन लोक में (**सार**) उत्तम वस्तु है, वह (**शिवसरूप**) आनन्दस्वरूप और (**शिवकार**) मोक्ष प्राप्त करानेवाली है; इसलिए मैं उसे (**त्रियोग**) तीनों योगों की (**समारिकर**) सावधानीपूर्वक (**नमों**) नमस्कार करता हूँ।

छ ह ढा ला

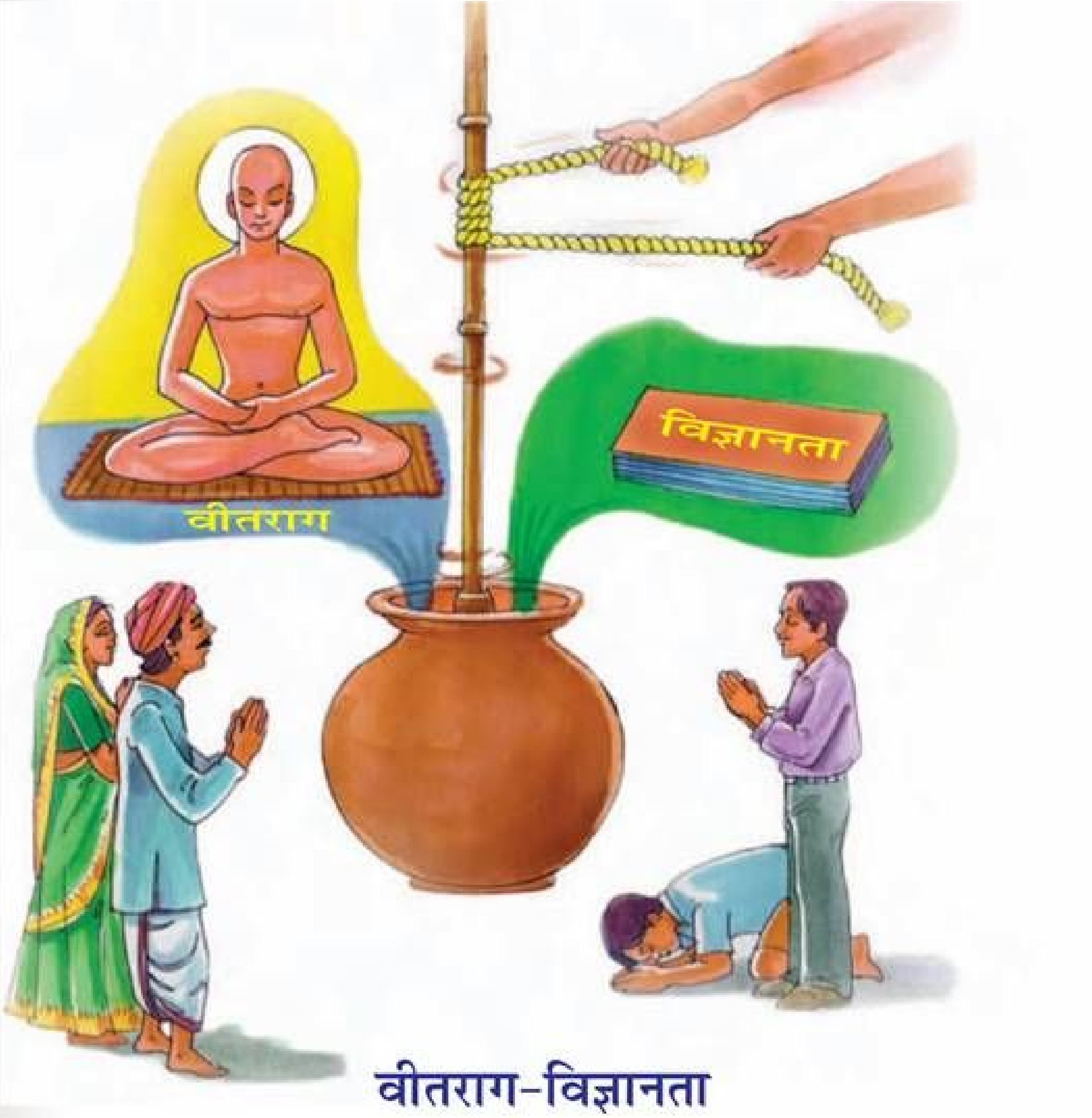

वीतराग-विज्ञानता

भावार्थ - राग-द्वेष रहित 'केवलज्ञान', ऊर्ध्व, मध्य, और अधो — इन तीनों लोकों में उत्तम, आनन्दस्वरूप तथा मोक्षदायक है; इसलिए मैं (दौलतराम) अपने त्रियोग; अर्थात्, मन-वचन-काय सम्बन्धी तीनों योगों की सावधानीपूर्वक, उस वीतरागस्वरूप (१८ दोषरहित) केवलज्ञान को नमस्कार करता हूँ।

वीतराग-विज्ञानता में चौथे से लेकर बारहवें गुणस्थान तक पायी जानेवाली कषायांश के अभावरूप, वीतरागता तथा सम्यग्ज्ञानस्वरूप, विज्ञानता समाहित है, क्योंकि सम्यक्पने की अपेक्षा, वीतरागता और विज्ञानता की जाति समान है।

छन्द - १

प्रस्तुत छन्द में श्रीगुरु, संसार में दुःखी जीवों पर करुणा करते हुए कहते हैं –

॥ चौपाई ॥

जे त्रभुवन में जीव अनंत, सुख चाहैं दुख तें भयवंत।
तातें दुखहारी सुखकार, कहैं सीख गुरु करुणा धार॥

अन्वयार्थ - (**त्रभुवन में**) तीनों लोक में (**जे**) जो (**अनंत**) अनन्त (**जीव**) प्राणी हैं, वे (**सुख**) सुख की (**चाहैं**) इच्छा करते हैं और (**दुख तें**) दुःख से (**भयवंत**) डरते हैं; (**तातें**) इसलिए (**गुरु**) आचार्य (**करुणा**) दया (**धार**) करके (**दुखहारी**) दुःख का नाश करनेवाली और (**सुखकार**) सुख को देनेवाली (**सीख**) शिक्षा (**कहैं**) देते हैं।

भावार्थ – तीन लोक में अनन्त जीव / प्राणी हैं। वे सभी दुःख से डरते हैं और सुख चाहते हैं; इसलिए करुणावन्त आचार्यदेव, हम जीवों पर करुणा करके, दुःख का नाश करनेवाली तथा सुख देनेवाली शिक्षा, अर्थात् उपदेश प्रदान करते हैं।

छन्द - २

श्रीगुरु, मोह-राग-द्वेष को संसार के दुःखों का मूलकारण बतलाते हैं –

ताहि सुनौ भवि थिर मन आन, जौ चाहौ अपनों कल्यान।
मोह महामद पिऔ अनादि, भूलि आपकौ भरमत वादि॥

अन्वयार्थ – (**भवि**) हे भव्य जीवों ! (**जौ**) यदि तुम (**अपनों**) अपना (**कल्यान**) हित (**चाहौ**) चाहते हो तो (**ताहि**) गुरु की वह शिक्षा (**मन**) मन को (**थिर**) स्थिर (**आन**) करके (**सुनौ**) सुनो। इस संसार में प्रत्येक प्राणी (**अनादि**) अनादि काल से (**मोह मदामद**) मोहरूपी महामदिरा (**पिऔ**) पीने के कारण (**आपकौ**) अपने आत्मा को (**भूलि**) भूलकर (**वादि**) व्यर्थ में ही (**भरमत**) भटक रहा है।

भावार्थ – हे भव्य प्राणियों ! यदि अपना हित चाहते हो तो करुणामूर्ति श्रीगुरु की दु:ख का निवारण करनेवाली यह शिक्षा, अपने मन को स्थिर करके सुनो !

जिस प्रकार कोई शराबी मनुष्य, तेज शराब पीकर, नशे में चकचूर होकर, इधर-उधर डगमगाकर गिरता फिरता है; उसी प्रकार यह जीव, अनादि काल से मोह में फँसकर, अपनी आत्मा के स्वरूप को भूलकर, चारों गतियों में जन्म-मरण धारण करके भटक रहा है।

छन्द - ३

प्रस्तुत छन्द में पण्डितप्रवर दौलतरामजी, इस ग्रन्थ में पूर्वाचार्यों के अनुसार ही कथन करने की प्रतिज्ञा करते हुए, सर्व प्रथम निगोद के दुःखों का वर्णन करते हैं –

तासु भ्रमन की है बऊ कथा, पै कछु कहौ कही मुनि जथा।
काल अनंत निगोद मँझारि, बीत्यौ इक इंद्री तन धार॥

अन्वयार्थ - यद्यपि (**तासु**) संसार में जीव के (**भ्रमन की**) भटकने की (**कथा**) कथा (**बऊ**) बहुत बड़ी (**है**) है, (**पै**) तथापि (**जथा**) जैसी (**मुनि**) पूर्वाचार्यों ने (**कही**) कही है, उसके अनुसार मैं भी (**कछु**) कुछ; अर्थात्, संक्षेप में (**कहौ**) कहता हूँ। इस जीव का (**अनंत काल**) अनादि से लेकर अनन्त काल (**निगोद मँझारि**) नित्य एवं इतर निगोद में (**इक इंद्री**) एकेन्द्रिय (**तन**) शरीर (**धार**) धारण करके (**बीत्यौ**) व्यतीत हुआ है।

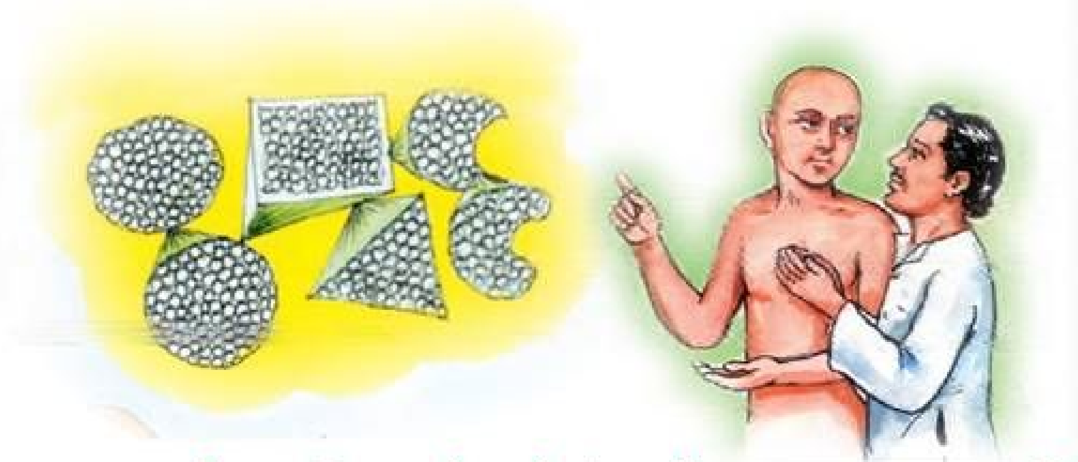

भावार्थ - यद्यपि इस जीव की संसार में जन्म-मरण धारण करने की कथा बहुत विस्तृत है तथापि पूर्वाचार्यों ने जिस प्रकार अन्य ग्रन्थों में कही है, उसके अनुसार मैं (दौलतराम) भी इस ग्रन्थ में संक्षिप्तरूप से वर्णन करता हूँ।

इस जीव ने नरक से भी निकृष्टदशारूप निगोद में एकेन्द्रिय शरीर धारण करके, वहाँ अनन्त काल व्यतीत किया है।

छन्द - ४

जीवों ने अनादि से अपने अज्ञान के कारण, स्थावर की पाँचों पर्यायों में घोर दुःख उठाया है –

एक सांस में अठ-दस बार, जन्मौ मरौ भरौ दुखभार।
निकसि भूमि जल पावक भयौ, पवन प्रत्येक वणस्पति थयौ ॥

अन्वयार्थ – वहाँ, यह जीव (**एक सांस में**) एक साँस में (**अठ-दस बार**) अठारह बार (**जन्मौ**) जन्मा और (**मरौ**) मरा तथा (**दुखभार**) अपार दुःखों का भार (**भरौ**) सहन किया। वहाँ से (निगोद से) (**निकसि**) निकलकर (**भूमि**) पृथ्वीकायिक, (**जल**) जलकायिक, (**पावक**) अग्निकायिक (**भयौ**) जीव हुआ, तथा (**पवन**) वायुकायिक, और (**प्रत्येक वणस्पति**) प्रत्येक वनस्पतिकायिक (**थयौ**) जीव हुआ।

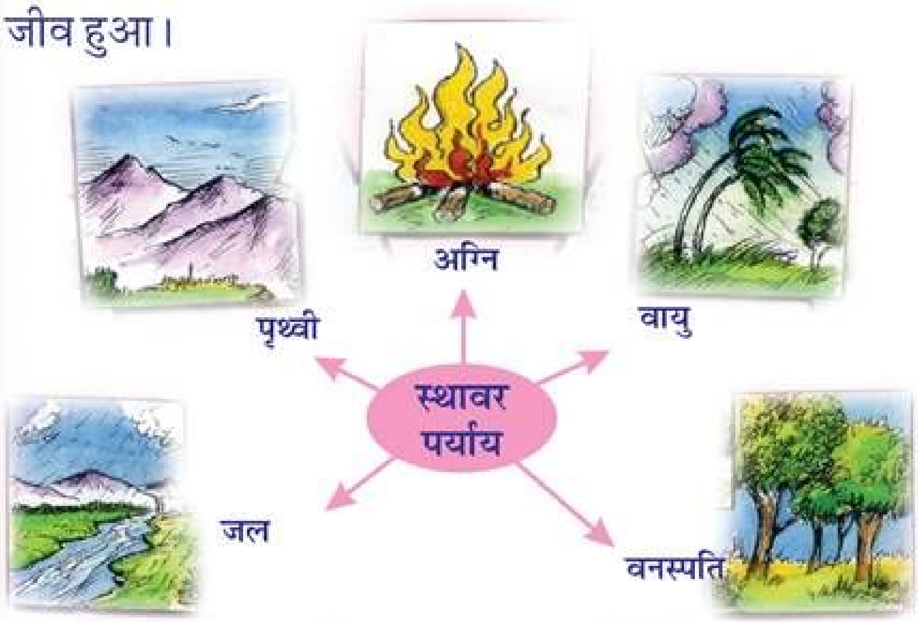

भावार्थ – निगोद; अर्थात्, साधारण वनस्पति में इस जीव ने एक श्वासमात्र समय में अठारह बार जन्म और मरण करके, भयङ्कर दुःख सहन किये हैं।

वहाँ से निकलकर पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक, तथा प्रत्येक वनस्पतिकायिक जीव के रूप में उत्पन्न हुआ है।

विशेष स्पष्टीकरण - (१) निगोद से निकलकर उक्त क्रम में ही पर्यायें धारण करने का कोई निश्चित नियम नहीं है; जैसे, भरत चक्रवर्ती के ९२३ पुत्रों ने नित्यनिगोद से गिजाई के भवपूर्वक मनुष्य पर्याय प्राप्त की और उसी (मनुष्य) भव से मोक्ष गये। अतः इस कथन को सिद्धान्तरूप से ग्रहण न करके, वर्णन के क्रम के रूप में ही समझना चाहिए।

(२) सभी निगोदिया जीव, एक श्वास में अठारह बार जन्म-मरण करते हों - ऐसा भी नियम नहीं है परन्तु जो जीव, लब्ध-अपर्याप्तक शरीर धारण करते हैं, वे ही एक श्वास में अठारह बार जन्म-मरण करते हैं। ये जीव, निगोद से लेकर पञ्चेन्द्रिय तक भी हो सकते हैं। इस सन्दर्भ में निम्न आगम उद्धरण दृष्टव्य है –

तिण्णिसया छत्तीसा, छवट्ठिसहस्सागाणि मरणाणि।
अंतोमुहुत्तकाले, तावदिया चेव खुद्दभवा॥
सीदी सट्ठी तालं, वियले चउवीस होंति पंचक्खे।
छावट्ठिं च सहस्सा, सयं च बत्तीसमेयक्खे॥
पुढविदगागणिमारुद, साहरणथूलसुहमपत्तेया।
एदेसु अपुण्णेसु य, एक्केक्के बार खं छक्कं॥

अर्थात्, एक अन्तर्मुहुर्त में एक लब्ध्यपर्याप्तक जीव, छ्यासठ हजार तीन सौ छत्तीस बार मरण और उतने ही भवों-जन्मों को भी धारण कर सकता है। इन भवों को क्षुद्रभव शब्द से कहा गया है।

विकलेन्द्रियों में द्वीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के ८० भव, त्रीन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के ६०, चतुरिन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के ४०, पञ्चेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्तक के २४ तथा एकेन्द्रियों के ६६१३२ भवों को धारण कर सकता है; अधिक को नहीं।

स्थूल और सूक्ष्म, दोनों प्रकार के जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, साधारण वनस्पति तथा प्रत्येक वनस्पति, इस प्रकार सम्पूर्ण ग्यारह प्रकार के लब्ध्यपर्याप्तकों में से प्रत्येक (हर एक) के ६०१२ भेद होते हैं। *(- गोम्मटसार जीवकाण्ड, गाथा १२३-१२५)*

पण्डित दौलतरामजी के एक श्वास में अठारह बार जन्म-मरण के कथन को दुःख की अधिकता के सन्दर्भ में ही देखना चाहिए, क्योंकि पहले तो निगोद में दुःख की अधिकता है और साथ में यदि वहाँ लब्ध-अपर्याप्तकदशा में जन्म हो तो दुःख का पार ही नहीं है। ध्यान रहे कि ग्रन्थकार को यहाँ दुःख की अधिकता का प्रतिपादन ही अभीष्ट है।

छ

ह

ढा

ला

छन्द - ५

त्रसपर्याय की दुर्लभता एवं दुःखों का वर्णन करते हुए कहते हैं –

दुर्लभ लहि ज्यौं चिन्तामणी, त्यौं पर्जाय लही त्रसतणी।
लट पिपील अलि आदि शरीर, धरि-धरि मर्यौ सही बहु पीर॥

अन्वयार्थ – (**ज्यौं**) जिस प्रकार (**चिन्तामणी**) चिन्तामणि रत्न (**दुर्लभ**) कठिनाई से (**लहि**) प्राप्त होता है; (**त्यौं**) उसी प्रकार (**त्रसतणी**) त्रस की (**पर्जाय**) पर्याय भी बड़ी कठिनाई से (**लही**) प्राप्त हुई। वहाँ भी (**लट**) इल्ली, (**पिपील**) चींटी, (**अलि**) भँवरा (**आदि**) इत्यादि के (**शरीर**) शरीर (**धरि -धरि**) बारम्बार धारण करके (**मर्यौ**) मरण को प्राप्त हुआ और (**बहु पीर**) अत्यन्त पीड़ा (**सही**) सहन की।

भावार्थ – जिस प्रकार चिन्तामणि रत्न बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है; उसी प्रकार इस जीव ने त्रसपर्याय बड़ी कठिनता से प्राप्त की। उस त्रसपर्याय में भी लट/इल्ली आदि दो इन्द्रिय जीव; चींटी आदि तीन इन्द्रिय जीव; भँवरा आदि चार इन्द्रिय जीव के शरीर धारण करके मरा और अकथनीय दुःख सहन किये।

छन्द - ६

तिर्यञ्चगति में संज्ञी तथा असंज्ञीदशा के दुःखों का प्रतिपादन इस छन्द में किया गया है –

कबहूँ पंचेंद्रीय पशु भयौ, मन बिन निपट अज्ञानी थयौ।
सिंहादिक सैनी ह्वै क्रूर, निबल पसू हति खाये भूरि॥

अन्वयार्थ - यह जीव (**कबहूँ**) कभी (**पंचेंद्रिय**) पञ्चेन्द्रिय (**पशु**) तिर्यञ्च (**भयौ**) हुआ तो (**मन बिन**) मन के बिना (**निपट**) सर्वथा (**अज्ञानी**) हिताहित के ज्ञान से रहित मूर्ख (**थयौ**) हुआ और कभी (**सैनी**) संज्ञी भी (**ह्वै**) हुआ तो (**सिंहादिक**) सिंह आदि (**क्रूर**) क्रूर जीव होकर (**निबल**) अपने से निर्बल (**भूरि**) अनेक (**पसू**) तिर्यञ्च (**हति**) मार-मारकर (**खाये**) खाये।

भावार्थ - यह जीव, कभी असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय पशु भी हुआ तो मनरहित होने से सम्यग्ज्ञान प्राप्त करने के अयोग्य रहा; अर्थात्, यहाँ तक इस जीव को सम्यग्दर्शन प्राप्त होने के पहले होनेवाली पाँच लब्धियों में से प्रथम क्षयोपशमलब्धि प्राप्त करने की योग्यता भी नहीं हुई और यदि कभी संज्ञी भी हुआ तो सिंह आदि क्रूर परिणामी होकर, इसने अपने से निर्बल अनेक जीवों को मार-मारकर खाया। इस दशा में क्षयोपशमलब्धि की पात्रता होने पर भी, परिणामों की विशुद्धि के बिना क्रूर परिणामों में ही जीवन व्यतीत किया।

छन्द - ७

यहाँ भी तिर्यञ्चगति के ही विविध दुःखों का वर्णन किया जा रहा है –

कबहूँ आप भयौ बलहीन, सबलनि करि खायौ अति दीन।
छेदन-भेदन भूख-पयास, भार वहन हिम-आतप त्रास॥

अन्वयार्थ - यह जीव, तिर्यञ्चगति में (**कबहूँ**) कभी (**आप**) स्वयं (**बलहीन**) निर्बल (**भयौ**) हुआ तो (**अति दीन**) असमर्थ होने से (**सबलनि करि**) अपने से बलवान प्राणियों द्वारा (**खायौ**) खाया गया और इसने (**छेदन**) छेदा जाना, (**भेदन**) भेदा जाना, (**भूख**) भूख, (**पयास**) प्यास, (**भार वहन**) बोझा ढोना, (**हिम**) सर्दी, (**आतप**) गर्मी आदि अनेक (**त्रास**) दुःख सहन किये।

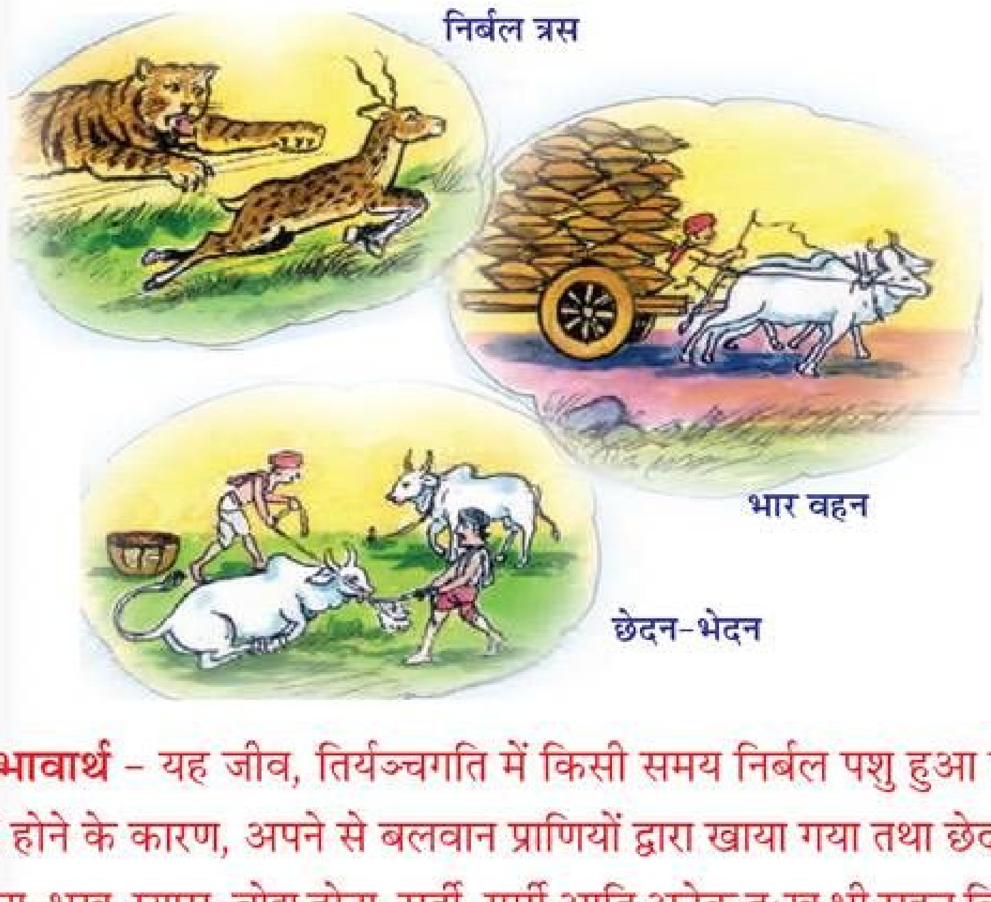

भावार्थ - यह जीव, तिर्यञ्चगति में किसी समय निर्बल पशु हुआ तो स्वयं असमर्थ होने के कारण, अपने से बलवान प्राणियों द्वारा खाया गया तथा छेदा जाना, भेदा जाना, भूख, प्यास, बोझ ढोना, सर्दी, गर्मी आदि अनेक दुःख भी सहन किये।

छन्द - ८

तिर्यञ्चगति के अकथनीय दुःखों और नरकगति प्राप्ति के कारण का वर्णन इस प्रकार है –

बध बंधन आदिक दुख घनें, कोटि जीभ तें जात न भनें।
अति संक्लेश भाव तें मरौ, घोर सुभ्रसागर में परौ॥

अन्वयार्थ – इस तिर्यञ्चगति में जीव ने (**बध**) मारा जाना, (**बंधन**) बाँधा जाना (**आदिक**) आदि अन्य भी (**घनें**) अनेक (**दुख**) दुःख सहन किये, जो (**कोटि**) करोड़ों (**जीभ तें**) जीभों से भी (**जात न भनें**) नहीं कहे जा सकते। इस प्रकार यह जीव (**अति संक्लेश**) अति तीव्र कषाय (**भाव तें**) परिणामों में (**मरौ**) मरकर (**घोर**) भयानक (**सुभ्रसागर में**) नरकरूपी समुद्र में (**परौ**) जा गिरा।

वध-बन्धन

संक्लेश-मरण

भावार्थ – इस जीव ने तिर्यञ्चगति में मारा जाना, बाँधा जाना आदि अनेक दुःख सहन किये, जो करोड़ों जीभों से भी नहीं कहे जा सकते और अन्त में अत्यन्त तीव्र कषाययुक्त परिणामों; अर्थात्, तीव्र आर्तध्यान के परिणामों में मरकर, जिसे बड़ी कठिनता से पार किया जा सके, ऐसे समुद्र के समान भयङ्कर नरक में जा पहुँचा।

छन्द - ९

श्रीगुरु, करुणापूर्वक नरकभूमि के स्पर्शादि से होनेवाले असह्य दुःखों को बतलाते हैं –

तहाँ भूमि परसत दुख इसौ, बीछू सहस डसत तन तिसौ।
तहाँ राधि-श्रोणित वाहिनी, कृम-कुल कलित देह दाहिनी॥

अन्वयार्थ - **(तहाँ)** वहाँ (नरक की) **(भूमि)** धरती के **(परसत)** स्पर्शमात्र करने से **(इसौ)** ऐसा **(दुख)** दुःख होता है, **(तिसौ)** जैसा **(बिछू सहस)** हजारों बिच्छुओं के द्वारा **(डसत तन)** शरीर को डङ्क मारने से होता है। **(तहाँ)** नरक में **(राधि-श्रोणित वाहिनी)** रक्त और मवाद को बहानेवाली वैतरणी नामक नदी है, जो **(कृम-कुल कलित)** अनेक प्रकार के छोटे-छोटे क्षुद्र कीड़ों से भरी हुई है तथा **(देह दाहिनी)** शरीर में तीव्र दाह उत्पन्न करनेवाली है।

भावार्थ - हजारों बिच्छुओं द्वारा शरीर को एक साथ डङ्क मारने से जितनी वेदना होती है, उससे अधिक वेदना, नरक की भूमि के स्पर्शमात्र से नारकियों को होती है। नरक में खून, मवाद, और छोटे-छोटे कीड़ों से भरी हुई, तथा शरीर में दाह उत्पन्न करनेवाली एक **वैतरणी** नामक नदी है, जिसमें शान्तिलाभ की इच्छा से नारकी जीव कूदते हैं किन्तु वहाँ उनकी पीड़ा अधिक भयङ्कर हो जाती है।

छन्द - १०

नरकगति में प्राप्त भयङ्कर दुःख एवं शीत-उष्णता का वर्णन कविवर ने इस प्रकार किया है –

सेवरतरु जुतदल असिपत्र, असि जौं देह विदारैं तत्र।
मेरु-प्रमान लोह गलि जाय, ऐसी सीत-उष्णता थाय॥

अन्वयार्थ - (**तत्र**) उन नरकों में (**असिपत्र**) तलवार की धार के समान तीक्ष्ण (**जुतदल**) पत्तोंवाले (**सेवरतरु**) सेमर के वृक्ष हैं, जो (**देह**) शरीर को (**असि जौं**) तलवार की तरह (**विदारैं**) चीर देते हैं, तथा वहाँ (**ऐसी**) ऐसी (**सीत**) ठण्ड और (**उष्णता**) गरमी (**थाय**) होती है कि (**मेरु-प्रमान**) मेरुपर्वत के बराबर (**लोह**) लोहे का गोला भी (**गलि**) गल (**जाय**) सकता है।

भावार्थ - उन नरकों में सेमर के वृक्ष हैं, जिनके पत्ते तलवार की धार के समान तीक्ष्ण हैं। जब दु:खी नारकी छाया मिलने की आशा लेकर, उस वृक्ष के नीचे आता है, तब उस वृक्ष के पत्ते गिरकर उसके शरीर को चीर देते हैं।

उन नरकों में इतनी अधिक गर्मी होती है कि एक लाख योजन ऊँचे सुमेरुपर्वत के बराबर लोहे का पिण्ड भी पिघल सकता है और इतनी अधिक सर्दी पड़ती है कि सुमेरुपर्वत के बराबर लोहे का गोला भी गल सकता है। लोक में कहा जाता है कि सर्दी के कारण हाथ अकड़ गये; हिम (बर्फ) गिरने से वृक्ष या अनाज जल गया आदि। आशय यह है कि अत्यधिक प्रचण्ड सर्दी के कारण लोहे में चिकनाहट कम हो जाने से, उसके स्कन्ध बिखर जाते हैं।

सिर पर मौत मंडरा रही है

मरण तो आना ही है, तब सब कुछ छूट जाएगा। बाहर की एक वस्तु छोड़ने में तुझे दु:ख होता है, तो बाहर के समस्त द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव एक साथ छूटने पर तुझे कितना दु:ख होगा ? मरण की वेदना भी कितनी होगी ? 'कोई मुझे बचाओ' - ऐसा तेरा हृदय पुकारता होगा, परन्तु क्या कोई तुझे बचा सकेगा ? तू भले ही धन के ढेर लगा दे, वैद्य-डाक्टर भले सर्व प्रयत्न कर लें, आस-पास खड़े हुए अनेक सगे-सम्बन्धियों की ओर तू भले ही दीनता से टुकुर-टुकुर देखता रहे, तथापि क्या कोई तुझे शरणभूत हो ऐसा है ? यदि तूने शाश्वत स्वयंरक्षित ज्ञानानन्दस्वरूप आत्मा की प्रतीति-अनुभूति करके आत्म-आराधना की होगी, आत्मा में से शान्ति प्रगट की होगी, तो वह एक ही तुझे शरण देगी। इसलिए अभी से वह प्रयत्न कर। 'सिर पर मौत मंडरा रही है' - ऐसा बारम्बार स्मरण में लाकर तू पुरुषार्थ जगा कि जिससे 'अब हम अमर भये, न मरेंगे' ऐसे भाव में तू समाधिपूर्वक देहत्याग कर सके।

- बहिनश्री के वचनामृत, क्रमाङ्क ४१२

छन्द - ११

नारकियों में परस्पर एवं असुरकुमार देवों द्वारा प्रदत्त कष्ट और प्यास की भयङ्कर वेदना, इस छन्द से जानी जा सकती है –

तिल-तिल करैं देह के खंड, असुर भिरावैं दुःष प्रचंड।
सिंधु-नीर तें प्यास न जाय, तौ पन एक बूंद न लहाय॥

अन्वयार्थ - इन नरकों में नारकी जीव, एक-दूसरे के (**देह के**) शरीर के (**तिल-तिल**) तिली के दाने बराबर (**खंड**) टुकड़े (**करैं**) कर डालते हैं और (**प्रचंड**) अत्यन्त (**दुःष**) क्रूर (**असुर**) असुरकुमार जाति के देव (**भिरावैं**) एक नारकी को दूसरे के साथ लड़ाते हैं। वहाँ इतनी (**प्यास**) प्यास लगती है कि (**सिंधु -नीर तें**) सारे समुद्र का पानी पीने से भी (**न जाय**) शान्त न हो, (**तौ पन**) लेकिन पानी की (**एक बूंद**) एक बूँद भी (**न लहाय**) उन्हें नहीं मिलती।

भावार्थ - उन नरकों में नारकी एक-दूसरे को दुःख देते रहते हैं; अर्थात्, हमेशा आपस में लड़ते रहते हैं। वे एक-दूसरे के शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर डालते हैं लेकिन उनका वैक्रियकशरीर बारम्बार पारे की भाँति बिखर कर जुड़ जाता है।

छ
ह
ढा
ला

संक्लिष्ट परिणामवाले अम्ब, अम्बरीष आदि असुरकुमार जाति के देव, तीसरे नरक तक जाकर, वहाँ की तीव्र यातनाओं में पड़े हुए नारकियों को, अपने अवधिज्ञान का दुरुपयोग करके, परस्पर पूर्व का वैर बतलाकर अथवा क्रूरता और कुतूहल से आपस में लड़ाते हैं और स्वयं आनन्दित होते हैं।

उन नारकी जीवों को इतनी तीव्र प्यास लगती है कि यदि प्राप्त हो जाए तो सम्पूर्ण महासागर का जल भी पी जाएँ, फिर भी तृषा शान्त न हो, किन्तु खेद है कि वहाँ उन्हें पानी की एक बूँद भी पीने को नहीं मिल पाती।

थोड़ा सहन करना सीख

भाई ! यह तेरे नरकादि दु:खों की कथा, तुझे उनसे छूटने के लिए सुनायी जा रही है। स्वयंभूरमण समुद्र का पानी, जो असंख्य योजन में विस्तरित है और स्वाद में मधुर है, वह सारा पानी पी जाने पर भी जहाँ प्यास नहीं बुझेगी, इतनी तो जिनकी तृषा है परन्तु पीने के लिए पानी की एक बूँद भी नहीं मिलती; असह्य तृषा से वे नारकी पीड़ित रहते हैं। चैतन्य के शान्तरस के बिना उनकी तृषा कैसे मिटेगी ? जब अवसर था, तब तो चैतन्य के शान्तरस का पान नहीं किया और उससे विरुद्ध अनन्त क्रोधादि कषायरूप अग्नि का सेवन किया, तो बाहर में तीव्र प्यास के दु:ख में वे जीव जल रहे हैं। मुनिवर तो चैतन्य के उपशमरस में ऐसे लीन होते हैं कि पानी पीने की वृत्ति भी छूट जाती है। यहाँ तो थोड़ा बीमार पड़ा हो और पानी आने में थोड़ी देर हो जाए तो क्रोधित हो उठता है कि 'सब कहाँ मर गये ? कोई पानी क्यों नहीं देता ?' परन्तु भाई ! जरा धीरज रखना सीख, थोड़ा सहन करना सीख। नरक में तुझे कौन पानी पिलानेवाला था ? पानी का नाम लेते ही मुँह में उबलता रस डाला जाता था। यह सब भूल गया क्या ?

- पूज्य गुरुदेवश्री, छहढाला प्रवचन १/११

छन्द - १२

नरकगति में दुःखों का उपसंहारात्मक निरुपण करते हुए कहते हैं कि –

तीनि लोक कौ अन्न जु खाय, मिटै न भूख कणा न लहाय।
ए दुख बहु सागर लौं सहै, करम जोग तें नरभव लहै॥

अन्वयार्थ – उन नरकों में इतनी अधिक भूख लगती है कि **(तीनि लोक कौ)** तीनों लोक का **(अन्न)** अनाज **(जु खाय)** खा जाएँ, फिर भी **(भूख)** क्षुधा **(न मिटै)** शान्त न हो, परन्तु उन्हें खाने के लिए **(कणा)** एक दाना भी **(न लहाय)** नहीं मिलता। यह जीव **(ए दुख)** ऐसे दुःख **(बहु सागर लौं)** अनेक सागरोपम काल तक **(सहै)** सहन करता है; **(करम जोग तें)** किसी विशेष शुभकर्म के योग से **(नरभव)** मनुष्यभव **(लहै)** प्राप्त करता है।

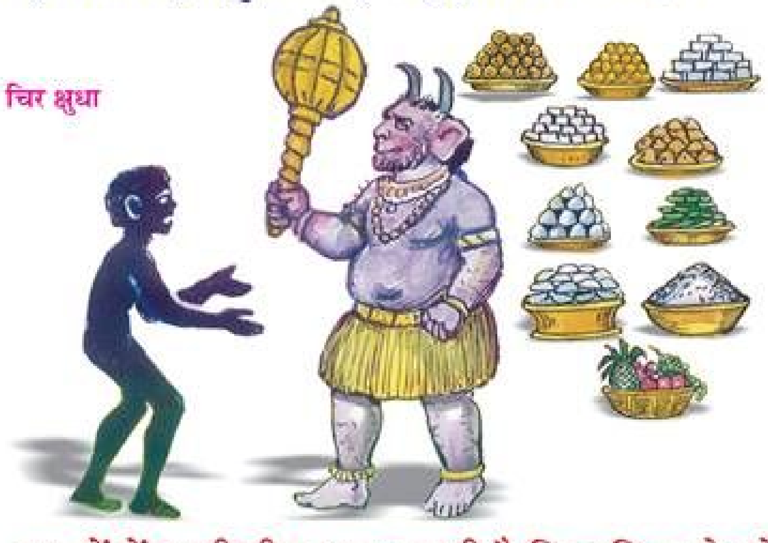

भावार्थ – नरकों में इतनी तीव्र भूख लगती है कि यदि खाने को मिल जाए तो तीनों लोक का अनाज एक साथ खा जाएँ, तथापि क्षुधा शान्त न हो, परन्तु वहाँ खाने के लिए अन्न का दाना भी नहीं मिलता। नरकों में यह जीव, ऐसे अपार दुःख दीर्घकाल; अर्थात्, कम से कम दश हजार वर्ष और अधिक से अधिक तेतीस सागरोपम काल तक भोगता है। किसी महान शुभकर्म के उदय से यह जीव, मनुष्यगति प्राप्त करता है।

छन्द - १३

मनुष्यगति में गर्भवास व जन्म के दुःखों का निरुपण इस प्रकार है –

जननी उदर वसौ नव मास, अंग सकुचतें पाई त्रास।
निकसत जे दुख पाये घोर, तिनकौ कहत न आवै और॥

अन्वयार्थ – मनुष्यगति में यह जीव (**नव मास**) नौ महीने तक (**जननी**) माता के (**उदर**) पेट में (**वसौ**) रहा; तब वहाँ (**अंग**) शरीर (**सकुचतें**) सिकोड़कर रहने से (**त्रास**) अपार दुःख (**पाई**) पाया और (**निकसत**) बाहर निकलते समय (**जे**) जो (**घोर**) भयङ्कर (**दुख पाये**) दुःख पाये, (**तिनकौ**) उन दुःखों को (**कहत**) कहने से (**और**) अन्त (**न आवे**) नहीं आ सकता।

भावार्थ – मनुष्यगति में यह जीव नौ महीने तक माता के पेट में रहा, वहाँ शरीर को सिकोड़कर रहने से तीव्र वेदना सहन की। जन्म के समय, माता के गर्भ से बाहर निकलते हुए भी इस जीव ने जो दुःख सहन किया, उन दुःखों का वर्णन बहुत काल तक करते रहें तो भी पूर्ण नहीं किया जा सकता। कभी-कभी तो जन्म के समय तीव्र वेदना के कारण माता अथवा पुत्र का, अथवा दोनों का मरण भी हो जाता है।

छन्द - १४

अज्ञानी जीव, मनुष्यगति में बाल, युवा एवं वृद्धावस्था को गँवाकर, आत्महित से अजान रहता है –

बालपने में ज्ञान न लह्यौ, तरुण समै तरुणी रति रह्यौ।
अर्धमृतक-सम बूढ़ापनौ, कैसें रूप लखै आपनौं॥

अन्वयार्थ – मनुष्यगति में यह जीव (**बालपने में**) बचपने में (**ज्ञान**) ज्ञान (**न लह्यौ**) प्राप्त नहीं कर सका; (**तरुण समै**) युवावस्था में (**तरुणी रति**) युवती-पत्नी में लीन (**रह्यौ**) रहा और (**बूढ़ापनौ**) वृद्धावस्था में (**अर्धमृतक -सम**) अधमरा जैसा रहा। ऐसी दशा में जीव (**कैसें**) किस प्रकार (**आपनौं**) अपना (**रूप**) स्वरूप (**लखै**) देखे-विचारे-जानें।

भावार्थ – मनुष्यगति में यह जीव, बाल्यावस्था में अल्प बुद्धिवाला होने से विशेष ज्ञान प्राप्त नहीं कर पाया; यौवनावस्था में बुद्धिमान तो हुआ, किन्तु स्त्री के मोह; अर्थात्, विषय-भोगों में ही मस्त हो गया, और वृद्धावस्था में इन्द्रियों की शक्ति ही अत्यन्त कम हो गयी अथवा ऐसा कोई रोग लग गया, जिससे अधमरा जैसा होकर पड़ा रहा या मरणपर्यन्त जा पहुँचा। इस प्रकार यह जीव, मनुष्यगति की तीनों अवस्थाओं में निज आत्मस्वरूप का दर्शन, अर्थात् पहिचान नहीं कर सका।

छ
ह
ढा
ला

छन्द - १५

श्रीगुरु, निम्न जाति के देवों की दयनीय दशा का वर्णन करते हैं –

कभी अकाम निर्जरा करै, भवनत्रक में सुरतनु धरै।
विषय-चाह दावानल दह्यौ, मरत विलाप करत दुख सह्यौ॥

अन्वयार्थ – इस जीव ने (**कभी**) कभी (**अकाम निर्जरा**) अकाम निर्जरा (**करै**) करके, (**भवनत्रक में**) भवनवासी, व्यन्तर, अथवा ज्योतिष में (**सुरतनु**) देव पर्याय (**धरै**) धारण की, परन्तु वहाँ भी (**विषय-चाह**) पाँच इन्द्रियों के विषयों की इच्छारूपी (**दावानल**) भयङ्कर अग्नि में (**दह्यौ**) जलता रहा और (**मरत**) मरते समय (**विलाप करत**) रो-रोकर (**दुख**) दुःख (**सह्यौ**) सहन किये।

भावार्थ – इस जीव ने कभी अकाम निर्जरापूर्वक मरकर, भवनत्रिक; अर्थात्, भवनवासी, व्यन्तर और ज्योतिषी देवों में से किसी एक का शरीर धारण किया। वहाँ भी अन्य देवों का वैभव देखकर अथवा पञ्चेन्द्रियों के विषयों की इच्छारूपी अग्नि में जलता रहा। मन्दारमाला को मुरझाते तथा शरीर व आभूषणों की कान्ति क्षीण होते देखकर, 'मेरा मृत्युकाल निकट है' – ऐसा अवधिज्ञान द्वारा जानकर, 'हाय! यह भोग अब मुझे भोगने को नहीं मिलेंगे' – ऐसे विचार से, रो-रोकर अनेक दुःख सहन किये।

छन्द - १६

वैमानिक देवों के दुःख का परिज्ञान कराते हुए कविवर पण्डित दौलतरामजी कहते हैं –

जो विमानवासी हू थाय, सम्यक्दर्शन बिन दुख पाय।
तहाँ तें चय थावर तनु धरै, यों परवर्तन पूरे करै॥

अन्वयार्थ – (**जो**) यदि (**विमानवासी**) वैमानिकदेव (**हू**) भी (**थाय**) हुआ, तो वहाँ (**सम्यक्दर्शन**) सम्यग्दर्शन के (**बिन**) बिना (**दुख**) दुःख ही (**पाय**) प्राप्त करता है और (**तहाँ तें**) वहाँ से (**चय**) मरकर पुनः (**थावर तनु**) स्थावर जीव का शरीर (**धरै**) धारण करता है; (**यों**) इस प्रकार यह जीव (**परवर्तन**) पाँच परावर्तन (**पूरे करै**) पूर्ण करता है।

भावार्थ – यह जीव, वैमानिक देवों में भी उत्पन्न हुआ, किन्तु वहाँ भी इसने सम्यग्दर्शन के अभाव में विशेष मानसिक दुःख ही प्राप्त किये और वहाँ से मरकर पृथ्वीकायिक आदि स्थावरों के शरीर धारण किये, अर्थात् पुनः तिर्यञ्चगति में जा गिरा।

इस प्रकार यह जीव, अनादि काल से द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, और भावरूप पाँच परावर्तन करता हुआ, संसार में भटक रहा है।

पहली ढाल का सारांश

तीन लोक में अनन्त जीव हैं। सभी सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं किन्तु अपना यथार्थ स्वरूप समझे बिना, जीव कभी सुखी नहीं हो सकता। चार गतियों के संयोग, सुख-दुःख के कारण नहीं हैं अपितु जीव, एकत्वबुद्धि के कारण पर में इष्ट-अनिष्टपना मानकर स्वयं दुःखी होता है। यह जीव, भ्रम के वशीभूत होकर संयोगों के आश्रय से किस तरह विकार करता है, यह पहली ढाल में संक्षेप में कहा गया है।

१. तिर्यञ्चगति के दुःख - यह जीव, नित्य एवं इतर निगोद की साधारण वनस्पति अवस्था में अनन्त काल तक रहता है। निगोद में अनन्त जीवों का एक शरीर होता है, उनका जन्म-मरण भी साथ-साथ होता है; इसी कारण इन जीवों को साधारण जीव भी कहते हैं। क्षुद्रभवों की लब्ध्यपर्याप्त (लब्धि-अपर्याप्त) अवस्था में शरीर पर्याप्ति पूर्ण किये बिना ही एक श्वास में अठारह बार जन्म-मरण करके, अकथनीय वेदना सहन करता है।

एक अन्तर्मुहूर्त में होनेवाले कुल क्षुद्रभवों की संख्या ६६,३३६ मानी गयी है। उनमें एकेन्द्रिय लब्ध्यपर्याप्त के ६६,१३२, दो इन्द्रिय के ८०, तीन-इन्द्रिय के ६०, चार-इन्द्रिय के ४०, असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च के ०८, संज्ञी पञ्चेन्द्रिय तिर्यञ्च के ०८ और मनुष्य के ०८ भव होते हैं; देव और नारकी लब्ध्यअपर्याप्त नहीं होते। इसी प्रकार अन्य पृथ्वी आदि स्थावर पर्यायें धारण करता है।

(क्षुद्रभव के सन्दर्भ में विशेष स्पष्टीकरण हेतु श्रीगोम्मटसार, जीवकाण्ड, गाथा ११९ से १२५ देखना चाहिए।)

त्रसपर्याय तो चिन्तामणिरत्न के समान अति दुर्लभता से प्राप्त होती है। वहाँ भी यह जीव, विकलत्रय; अर्थात्, दो, तीन या चार इन्द्रिय शरीर धारण करके अत्यन्त दुःख सहन करता है। कदाचित् असंज्ञी पञ्चेन्द्रिय होता है तो मन के बिना दुःख प्राप्त करता है। यदि संज्ञी होता है तो वहाँ भी क्रूर सिंहादिक प्राणी, दूसरे निर्बल प्राणियों को मारकर खाते हैं। निर्बल प्राणियों को अन्य भी अनेक प्रकार के दुःख भोगना पड़ते हैं। वे

छेदन-भेदन, भूख-प्यास, शीत-उष्णता, भारवहन, बध-बन्धन आदि अनेक अकथनीय दुःखों को प्राप्त करते हैं।

२. नरकगति के दुःख - जीव जब अशुभ / पाप परिणामपूर्वक मृत्यु को प्राप्त होता है, तब नरक में जाता है। वहाँ की मिट्टी के एक कण में भी इतनी शक्ति है कि यदि वह इस लोक में आ जाए तो उसकी दुर्गन्ध से कई कोसों के संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीव मर जाएँ। नरकभूमि के स्पर्शमात्र से भी असह्य वेदना होती है। दूसरे, नारकी जीव, उस पर टूट पड़ते हैं, मारपीट करते हैं, यन्त्रों में पेलते हैं, सांकलों में बाँधते हैं, अग्नि में फेंकते हैं, करोंत से चीरते हैं, भालों से बींधते हैं, अग्नि में खोलते तेल में फेंकते हैं, आदि-आदि।

नारकी, शीतल जल समझकर वैतरणी नामक नदी में प्रवेश करता है तो वहाँ दूसरे नारकी कछुओं आदि का रूप बनाकर, उसका भक्षण करते हैं। जब आश्रय ढूँढ़ने के लिए वह बिलों में प्रवेश करता है तो वहाँ अग्नि की ज्वालाओं का सामना करना पड़ता है। शीतल छाया के भ्रम से सेमर वृक्ष के नीचे जाता है, वहाँ वृक्षों के तलवार के समान तीक्ष्ण पत्तों से अथवा अन्यान्य शस्त्रों से छेदे जाते हैं। दूसरे नारकी, गिद्ध आदि पक्षी बनकर उसे चूँट-चूँटकर खाते हैं; अङ्गोपाङ्ग चूर्ण कर उसमें क्षारजल डालते हैं; खण्ड-खण्ड करके चूल्हों में डालते हैं; तप्त लोहे की पुतलियों से आलिङ्गन कराते हैं; उसी का माँस काटकर उसी के मुख में डालते हैं; गलाया हुआ लोहा व ताँबा उसे पिलाते हैं। तीव्र वेदना के कारण नारकी जीव, मृत्यु की इच्छा करता है लेकिन मरण को प्राप्त नहीं होता।

इस संसार में जितने भी दुःस्सह तथा प्रतिकार के अयोग्य रोग हैं, वे सब नारकियों के रोम-रोम में होते हैं। नारकियों का शरीर विकृत आकृतियोंवाला तथा उत्कृष्ट हुण्डक संस्थानवाला होता है। जिस प्रकार श्लेष्म, मूत्र, पुरीष, मल, रुधिर, वसा, मेद, पीप, वमन, पूति, माँस, केश, अस्थि, चर्म, आदि अशुभ सामग्रीयुक्त औदारिकशरीर होता है; उससे भी अतीव अशुभ सामग्रीयुक्त नारकियों का वैक्रियकशरीर होता है; अर्थात्, वैक्रियक होते हुए भी उनका शरीर उपरोक्त वीभत्स सामग्रीयुक्त होता है।

तीसरे नरक तक अम्ब और अम्बरीष आदि नाम के संक्लिष्ट परिणामी असुरकुमार देव जाकर, अवधिज्ञान के द्वारा नारकियों को पूर्व भवों के वैर का स्मरण करा कर परस्पर लड़ाते हैं। नरक में ऐसी तीव्र वेदनाएँ निरन्तर सहनी पड़ती हैं तथापि क्षणमात्र भी साता नहीं मिलती। वहाँ आयु पूर्ण हुए बिना मृत्यु नहीं होती। नरक में ऐसे

दुःख कम से कम दश हजार वर्ष तक सहने ही पड़ते हैं किन्तु यदि उत्कृष्ट आयु का बन्ध हुआ हो तो तेतीस सागरोपम तक महादुःख सहन करना पड़ता है।

(नरकगति एवं नारकी जीवों का विशेष वर्णन तिलोयपण्णत्ति, राजवार्तिक, महापुराण आदि ग्रन्थों से जानना चाहिए।)

३. मनुष्यगति के दुःख – किसी मिश्रित पुण्यकर्म के उदय से यह जीव, मनुष्य पर्याय प्राप्त करता है, तब नौ महीने तक तो माता के उदर में ही पड़ा रहता है। वहाँ शरीर को सिकोड़कर रहने से महान कष्ट उठाना पड़ता है। वहाँ से निकलते समय होनेवाली अपार वेदना तो वर्णनातीत है। मनुष्यगति में यह जीव, बचपन में ज्ञान के बिना, युवावस्था में विषय-भोगों में आसक्त रहने से, तथा वृद्धावस्था में इन्द्रियों की शिथिलता अथवा मरणपर्यन्त क्षयरोग आदि के कारण आत्मदर्शन से विमुख रहता है; अर्थात्, आत्मोद्धार का मार्ग प्राप्त नहीं कर पाता।

४. देवगति के दुःख – यदि यह जीव, किसी शुभकर्म के उदय से देव भी होता है तो दूसरे बड़े देवों का वैभव और सुख देखकर मन ही मन दुःखी रहता है। कदाचित् वैमानिक देव भी हुआ तो वहाँ भी सम्यक्त्व के बिना आत्मिकशान्ति प्राप्त नहीं कर पाता तथा अन्त समय में मन्दारमाला मुरझा जाने से, आभूषण और शरीर की कान्ति क्षीण होने से, मृत्यु को निकट आया जानकर महान दुःखी होता है और आर्तध्यानपूर्वक, हाय-हाय करके मरता है और फिर एकेन्द्रिय जीव तक होता है; अर्थात्, पुनः तिर्यञ्चगति में जा पहुँचता है। इस प्रकार चारों गतियों में जीव को कहीं भी सुख-शान्ति नहीं मिलती।

उक्त सम्पूर्ण कथन का सार यह है कि संसार की कोई भी गति, सुखदायक नहीं है। निश्चय सम्यग्दर्शन से ही पञ्च परावर्तनरूप संसार समाप्त होता है; अन्य किसी कारण से; अर्थात्, दया, दानादि के शुभराग से भी संसार का अभाव नहीं होता। वस्तुतः संयोग सुख-दुःख का कारण नहीं हैं किन्तु मिथ्यात्व; अर्थात्, पर के साथ एकत्वबुद्धि, ममत्वबुद्धि, कर्ताबुद्धि, तथा शुभराग से धर्म होता है या शुभराग हितकर है – ऐसी मान्यता ही दुःख का कारण है और सम्यग्दर्शन ही एकमात्र सुख का कारण है।

इस प्रकार यह जीव, अपने मिथ्यात्वभावों के कारण ही निरन्तर संसारचक्र में परिभ्रमण करते हुए दुःखी होता रहता है।

इस प्रकार अध्यात्मप्रेमी कविवर पण्डित दौलतरामजी द्वारा रचित छहढाला में 'संसार परिभ्रमण के दुःख' का निरुपण करनेवाली पहली ढाल पूर्ण हुई।

दूसरी ढाल

संसार दुःख का मूलकारण

मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र

छन्द - १

अब, पण्डित प्रवर दौलतरामजी पहली ढाल में वर्णित संसार परिभ्रमण के दुःखों का मूलकारण बतलाते हैं –

॥ पद्धरि छन्द ॥

ऐसे मिथ्या दृग्-ज्ञान-चर्ण, वसि भ्रमत भरत दुख जनम-मरण।
तातें इनकूं तजिये सुजान, सुनि तिनि संक्षेप कहूँ बखानि॥

अन्वयार्थ - यह जीव (**मिथ्या दृग्-ज्ञान-चर्ण वसि**) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के वश होकर (**ऐसे**) इस प्रकार (**जनम-मरण**) जन्म और मरण के (**दुख**) दुःखों को (**भरत**) भोगता हुआ, चारों गतियों में (**भ्रमत**) भटकता फिरता है। (**तातें**) इसलिए यहाँ इन तीनों का (मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का) (**संक्षेप**) संक्षेप से (**कहूँ बखानि**) वर्णन करता हूँ। (**तिन**) उसे (**सुनि**) सुनकर, (**सुजान**) भली-भाँति जानकर, (**इनकूं**) इन तीनों का (**तजिये**) परित्याग कर देना चाहिए।

दूसरी ढाल

छ
ह
ढा
ला

भावार्थ - इस छन्द में कहा गया है कि मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र से ही जीव को दु:ख होता है। तात्पर्य यह है कि शुभाशुभ रागादि विकार तथा परद्रव्यों के साथ एकत्व की मिथ्याश्रद्धा, ज्ञान और आचरण से ही जीव दु:खी होता है। वस्तुत: कोई संयोग सुख-दु:ख का कारण नहीं हो सकता — ऐसा जानकर, सुखार्थी जीवों को इन मिथ्याभावों का त्याग करना चाहिए; इसलिए मैं यहाँ संक्षेप में इन तीनों (मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र) के स्वरूप का वर्णन करता हूँ।

दु:ख के कारणों से दूर हट जा

भाई ! तेरे दु:ख की कथा तो इतनी बड़ी है कि उसे पूर्णत: केवली भगवान ही जानते हैं; कथन में तो अल्प ही आता है। मिथ्यात्वादि कैसे भाव तुमने सेये और उनके सेवन से तुम कैसे दु:खी हुए ? — यह बात सुनो ! सुनकर अब उनका सेवन छोड़ दो। तुमको किसी दूसरे ने नहीं रुलाया, किन्तु अपने मिथ्यात्वभाव से ही तुम रुले और दु:खी हुए। मिथ्यात्व और राग-द्वेष, दु:ख के कारण हैं। राग, अशुभ हो या शुभ, दोनों में दु:ख है। शुभ से भले स्वर्ग मिले, किन्तु वह भी दु:ख है। शुभराग से स्वर्ग मिल जाए, किन्तु कहीं भी शुभराग से आत्मा नहीं मिल सकता अथवा आत्मा के सम्यग्दर्शनादि कोई गुण, शुभराग से नहीं मिलते। राग तो स्वयं दोष है, उसके द्वारा गुण की प्राप्ति कैसे हो ? कभी नहीं होती। मिथ्यात्व और राग, स्वयं ही दु:ख है, उसका फल भी दु:ख है, तब फिर वह मोक्षसुख का कारण कैसे हो सकता है ? नहीं हो सकता, किन्तु अज्ञानी उसको सुख का कारण समझ रहा है। जो वीतराग-विज्ञान है, वह सुख है; जो राग-द्वेष-अज्ञान है, वह दु:ख है — ऐसा जानकर, हे जीव ! दु:ख के कारणों से तू दूर हट जा और सुख के लिये वीतराग-विज्ञान को प्रकट कर।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, छहढाला प्रवचन

छन्द - २

प्रस्तुत छन्द में संसार परिभ्रमण के मूल, अगृहीत मिथ्यादर्शन एवं जीव-तत्त्व का निरुपण किया गया है –

जीवादि प्रयोजनभूत तत्त्व, सर्धैं तिनमाहिं विपर्ययत्व।
चेतन कौ है उपयोग रूप, बिनमूरति चिन्मूरति अनूप॥

अन्वयार्थ - (**जीवादि**) जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष — ये (**प्रयोजनभूत**) प्रयोजनभूत (**तत्त्व**) तत्त्व हैं, (**तिनमाहिं**) उनमें (**विपर्ययत्व**) विपरीत (**सर्धैं**) श्रद्धा करना, सो अगृहीत मिथ्यादर्शन है। (**चेतन कौ**) आत्मा का (**रूप**) स्वरूप (**उपयोग**) देखना-जानना अथवा दर्शन-ज्ञान है और आत्मा (**बिनमूरति**) अमूर्तिक (**चिन्मूरति**) चैतन्यमय तथा (**अनूप**) उपमारहित (**है**) है।

भावार्थ - शुद्धात्मदृष्टिपूर्वक जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा, और मोक्ष — इन सात तत्त्वों की श्रद्धा करने से सम्यग्दर्शन होता है; इसलिए इन सात तत्त्वों को यथार्थरूप से जानना आवश्यक है। इन सात तत्त्वों के विपरीत श्रद्धान को अगृहीत मिथ्यादर्शन कहते हैं।

जीव, ज्ञान-दर्शन उपयोगस्वरूप, अर्थात् ज्ञाता-दृष्टा है; अमूर्तिक, चैतन्यमय तथा उपमारहित है।

छन्द - ३

जीव की अन्य द्रव्यों से भिन्नता और अज्ञानी की जीवतत्त्व सम्बन्धी विपरीत श्रद्धा इस प्रकार है –

पुद्‌गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतें न्यारी है जीव चाल।
ताकूं न जानि विपरीत मानि, फरि करैं देह में निज पिछानि ॥

अन्वयार्थ – (**पुद्‌गल**) पुद्‌गल, (**धर्म**) धर्म, (**अधर्म**) अधर्म, (**नभ**) आकाश, और (**काल**) काल, (**इनतें**) इनसे (**जीव चाल**) जीव का स्वभाव अथवा परिणाम (**न्यारी**) भिन्न (**है**) है, तथापि मिथ्यादृष्टि जीव (**ताकूं**) उस स्वभाव को (**न जानि**) नहीं जानता और (**विपरीत**) विपरीत (**मानि फरि**) मानकर, फिर (**देह में**) शरीर में (**निज**) आत्मा की (**पिछान**) पहिचान (**करैं**) करता है ।

भावार्थ – पुद्‌गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल — ये पाँच अजीवद्रव्य हैं । जीवद्रव्य, त्रिकाल ज्ञानस्वरूप और पुद्‌गलादि द्रव्यों से पृथक् है ।

मिथ्यादृष्टि जीव, आत्मा के उक्त वर्णित स्वभाव की यथार्थ श्रद्धा न करके, अज्ञानवश विपरीत मानकर; अर्थात्, शरीर ही मैं हूँ, शरीर के कार्य मैं कर सकता हूँ, मैं अपनी इच्छानुसार शरीर की व्यवस्था रख सकता हूँ — ऐसा मानकर, शरीर को ही आत्मा मानता है — **यह जीवतत्त्व सम्बन्धी जीव की विपरीत श्रद्धा है।**

छन्द – ४

इस छन्द में मिथ्यादृष्टि जीव की शरीरादि परद्रव्यों में निजत्त्व की कल्पना का वर्णन किया जा रहा है –

मैं सुखी-दुखी मैं रंक-राव, मेरौ धन-गृह-गोधन प्रभाव।
मेरे सुत-त्रिय मैं सबल-दीन, बेरूप-सुभग मूरख-प्रवीन॥

अन्वयार्थ – मिथ्यादृष्टि जीव, मिथ्यादर्शन के कारण ऐसा मानता है कि **(मैं)** मैं **(सुखी)** सुखी, **(दुखी)** दुःखी हूँ; **(मैं)** मैं **(रंक)** निर्धन, **(राव)** राजा हूँ; **(मेरौ)** मेरा **(धन)** रुपया–पैसा आदि है; **(गृह)** घर है, **(गोधन)** गाय, भैंस आदि; **(प्रभाव)** बड़प्पन है, और **(मेरे सुत)** मेरी सन्तान तथा **(त्रिय)** मेरी स्त्री है; **(मैं)** मैं **(सबल)** बलवान हूँ, **(दीन)** निर्बल हूँ, **(बेरूप)** कुरूप हूँ, **(सुभग)** सुन्दर हूँ, **(मूरख)** मूर्ख अथवा **(प्रवीन)** चतुर हूँ।

भावार्थ – जीव तो त्रिकाल ज्ञानस्वरूप है। उसे अज्ञानी जीव नहीं जानता और जो शरीर है, सो मैं ही हूँ; शरीर के कार्य मैं कर सकता हूँ; शरीर स्वस्थ हो तो मुझे लाभ हो; बाह्य अनुकूल संयोगों से मैं सुखी और प्रतिकूल संयोगों से मैं दुःखी; मैं निर्धन; मैं धनवान; मैं बलवान; मैं निर्बल; मैं मनुष्य; मैं कुरूप; मैं सुन्दर — ऐसा मानता है। वह शरीराश्रित उपदेश तथा उपवासादि क्रियाओं में अपनत्व मानता है – इत्यादि मिथ्या अभिप्राय द्वारा जो अपने परिणाम नहीं हैं किन्तु परपदार्थों के ही परिणाम हैं, उन्हें आत्मा का परिणाम मानता है। **यह जीवतत्त्व सम्बन्धी जीव की भूल, अर्थात् विपरीत श्रद्धा है।**

छन्द - ५

मिथ्यादृष्टि जीव की अजीव और आस्रवतत्त्व के सम्बन्ध में होनेवाली भूल इस प्रकार है –

तन उपजत अपनी उपज जान, तन नसत आपकों नास मान।
रागादि प्रघट ये दुःखदैन, तिनही कूं सेवत गिनैं चैन॥

अन्वयार्थ – मिथ्यादृष्टि जीव, (**तन**) शरीर के (**उपजत**) उत्पन्न होने से (**अपनी**) अपने [आत्मा] को (**उपज**) उत्पन्न हुआ (**जान**) मानता है और (**तन**) शरीर के (**नसत**) नाश होने से (**आपकों**) अपना [आत्मा का] (**नास**) मरण हुआ (**मान**) मानता है। (**रागादि**) राग, द्वेष, मोहादि (**ये**) जो (**प्रघट**) स्पष्टरूप से (**दुःखदैन**) दुःख देनेवाले हैं, (**तिनही कूं**) उनका ही (**सेवत**) सेवन करता हुआ, (**चैन**) सुख (**गिनैं**) मानता है।

जन्म

मरण

भावार्थ – मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा मानता है कि शरीर की उत्पत्ति / संयोग होने से मैं उत्पन्न हुआ और शरीर का नाश / वियोग होने से मैं मर जाऊँगा; इस प्रकार शरीर के संयोग-वियोग से आत्मा का जन्म-मरण मानता है। धन, शरीरादि जड़ पदार्थों में परिवर्तन होने से अपने में इष्ट-अनिष्ट परिवर्तन; शरीर में क्षुधा-तृषारूप अवस्था होने से मुझे क्षुधा-तृषादि होते हैं; शरीर कटने से मैं कट गया; इत्यादि जो अजीव की अवस्थाएँ हैं, उन्हें अपनी मानता है। **यह अजीवतत्त्व सम्बन्धी जीव की विपरीत श्रद्धा है।**

जीव अथवा अजीव कोई भी परपदार्थ, आत्मा का किञ्चित् भी सुख-दुःख; सुधार-बिगाड़ अथवा इष्ट-अनिष्ट नहीं कर सकते, तथापि अज्ञानी ऐसा नहीं मानता। पर में कर्तृत्त्व, ममत्वरूप मिथ्यात्व तथा राग-द्वेषादि शुभाशुभ आस्रवभाव, प्रत्यक्ष दुःखदायक और बन्ध के ही कारण होने पर भी, अज्ञानी जीव उन्हें सुखकारी जानकर सेवन करता है। शुभभाव भी आस्रव हैं, बन्ध का ही कारण हैं; फिर भी उन्हें हितकर मानता है। वस्तुतः परद्रव्य, जीव को लाभ-हानि नहीं पहुँचा सकते, तो भी अज्ञानी जीव उन्हें इष्ट-अनिष्ट मानकर, उनमें प्रीति-अप्रीति करता हैं; इस प्रकार वह मिथ्यात्व, राग-द्वेष का दुःखमय स्वरूप नहीं जानता और परपदार्थ मुझे सुख-दुःख देते हैं अथवा राग-द्वेष-मोह कराते हैं — ऐसा मानता है। **यह आस्रवतत्त्व सम्बन्धी जीव की विपरीत श्रद्धा है।**

ऐसा निरन्तर लगना चाहिए

कोई विकराल सिंह झपट्टा मारता हुआ अपने पीछे आ रहा हो तो स्वयं कैसी दौड़ लगायेगा? क्या वहाँ श्वाँस लेने के लिए भी खड़ा रहेगा? उसी प्रकार यह कालरूपी सिंह झपट्टा मारता हुआ पीछे दौड़ता आ रहा है और **अभी** आत्महित के अनेक कार्य करना है — ऐसा उसे निरन्तर लगना चाहिए।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

अज्ञानी जीव, बन्धतत्त्व और संवरतत्त्व की विपरीत श्रद्धा इस प्रकार करता है –

सुभ-असुभ बंध के फल मँझार, रति-अरति करैं निजपद विसारि।
आतम हित हेत विराग ज्ञान, ते लखैं आपकौं कष्ट दान॥

अन्वयार्थ – मिथ्यादृष्टि जीव, (**निजपद**) आत्मा के स्वरूप को (**विसार**) भूलकर (**बंध के**) कर्मबन्ध के (**सुभ**) अच्छे (**फल मँझार**) फल में (**रति**) प्रेम (**करैं**) करता है और कर्मबन्ध के (**असुभ**) बुरे फल में (**अरति**) द्वेष करता है। (**विराग**) राग-द्वेष का अभाव; अर्थात्, अपने स्वभाव में स्थिरतारूप सम्यक्चारित्र और (**ज्ञान**) सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन (**आतम हित**) आत्मा के हित के (**हेत**) कारण हैं; मिथ्यादृष्टि जीव (**ते**) उन्हें (**आपकौं**) आत्मा को (**कष्ट दान**) दु:ख देनेवाले (**लखैं**) मानता है।

बन्ध के फल

शुभ

अशुभ

विराग-ज्ञान

भावार्थ - अघातिकर्म के फलानुसार पदार्थों की संयोग-वियोगरूप अवस्थाएँ होती हैं। मिथ्यादृष्टि जीव, उन्हें अनुकूल-प्रतिकूल मानकर, उनसे मैं सुखी-दुःखी हूँ — ऐसी कल्पना द्वारा उनमें राग-द्वेष करता है। धनादि तथा योग्य स्त्री-पुत्रादि का संयोग होने से रति करता है; रोग, निन्दा, निर्धनता, पुत्र-वियोगादि होने से अरति करता है। वास्तव में पुण्य-पाप दोनों बन्धनकर्ता हैं — ऐसा न मानकर, पुण्य को हितकारी मानता है। तत्त्वदृष्टि से तो पुण्य-पाप दोनों अहितकर ही हैं परन्तु अज्ञानी ऐसा निर्धाररूप से नहीं मानता। **यह बन्धतत्त्व सम्बन्धी जीव की विपरीत श्रद्धा है।**

निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ही जीव को हितकारी हैं। स्वरूप में स्थिरता द्वारा राग का जितना अभाव, वह वैराग्य है और वह सुख का कारण है, तथापि अज्ञानी जीव उसे कष्टदायक मानता है। **यह संवरतत्त्व सम्बन्धी जीव की विपरीत श्रद्धा है।**

ज्ञानभावना

संसार में जब हजारों प्रकार की प्रतिकूलताएँ एक साथ आ पड़ें, कहीं मार्ग न सूझे; उस समय उपाय क्या ? एक ही उपाय है कि धैर्यपूर्वक ज्ञानभावना भाना।

ज्ञानभावना क्षणमात्र में सब प्रकार की उदासी को नष्ट कर, हितमार्ग सुझाती है, शान्ति देती है, कोई अलौकिक धैर्य और अचिन्त्य शक्ति देती है।

गृहस्थ श्रावक को भी 'ज्ञानभावना' होती है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

छन्द - ७

प्रस्तुत छन्द में मिथ्यादृष्टि जीव की निर्जरा और मोक्षतत्त्व के सम्बन्ध में होनेवाली भूल दर्शाते हुए, अगृहीत मिथ्याज्ञान का स्वरूप स्पष्ट किया जा रहा है –

रोकी न चाह निज शक्ति खोय, शिवरूप निराकुलता न जोय।
याही प्रतीतिजुत कछुक ज्ञान, सो दुखदाई अज्ञान जान॥

अन्वयार्थ – मिथ्यादृष्टि जीव ने (**निज शक्ति**) अपने आत्मा की शक्ति (**खोय**) खोकर / नहीं पहिचानकर, (**चाह**) इच्छा को (**न रोकी**) नहीं रोका तथा वह (**निराकुलता**) आकुलता के अभाव को (**शिवरूप**) मोक्ष का स्वरूप (**न जोय**) नहीं मानता। (**याही**) इसी (**प्रतीतिजुत**) मिथ्या मान्यतासहित (**कछुक ज्ञान**) जो कुछ ज्ञान है, (**सो**) वह (**दुखदाई**) कष्ट देनेवाला (**अज्ञान**) अगृहीत मिथ्याज्ञान है — ऐसा (**जान**) समझना चाहिए।

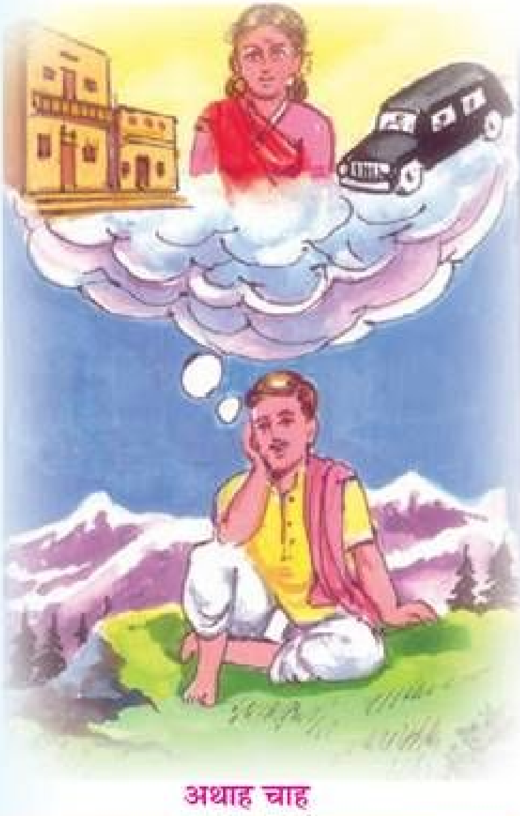

अथाह चाह

मोक्षतत्त्व

भावार्थ - आत्मा में शुद्धि की आंशिक वृद्धि तथा अशुद्धि की आंशिक हानि को संवरपूर्वक निर्जरा कहा जाता है। निर्जरा, निश्चय सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होती है।

ज्ञानानन्दस्वरूप में स्थिर होने से शुभ-अशुभ इच्छा का निरोध होना, तप है। तप दो प्रकार का है - (१) बालतप, और (२) सम्यक्तप। अज्ञानदशा में किया जानेवाला तप, बालतप है; उससे कभी सच्ची निर्जरा नहीं होती। आत्मस्वरूप में सम्यक्प्रकार से स्थिरता-अनुसार जितना शुभ-अशुभ इच्छा का अभाव होता है, वही सम्यक्तप है, जो निर्जरा का कारण है किन्तु मिथ्यादृष्टि जीव ऐसा नहीं मानता। वह अपनी अनन्त ज्ञानादि शक्ति को भूलकर, पराश्रय में सुख मानता है; शुभाशुभ इच्छा तथा पाँच इन्द्रियों के विषयों की चाह को नहीं रोकता। **यह निर्जरातत्त्व सम्बन्धी जीव की विपरीत श्रद्धा है।**

पूर्ण निराकुल आत्मिकसुख की प्राप्ति; अर्थात्, जीव की सम्पूर्ण शुद्धता ही मोक्ष का स्वरूप है तथा यही सच्चा सुख है, किन्तु अज्ञानी ऐसा नहीं मानता।

वह मानता है कि मोक्ष होने पर तेज, तेज में मिल जाता है अथवा वहाँ शरीर, इन्द्रियों, तथा विषयों के बिना सुख कैसे हो सकता है ? अथवा वहाँ से पुनः अवतार धारण करना पड़ता है — इत्यादि। इस प्रकार अज्ञानी जीव, मोक्षदशा में पूर्ण निराकुल सुख नहीं मानता। **यह मोक्षतत्त्व सम्बन्धी जीव की विपरीत श्रद्धा है।**

अगृहीत मिथ्यादर्शन की उपस्थिति में प्रकट प्रत्येक ज्ञान को अगृहीत मिथ्याज्ञान कहते हैं; वह महान दुःखदाता है। यह मिथ्याज्ञान, उपदेशादि बाह्य निमित्तों के आलम्बन द्वारा नवीन ग्रहण नहीं किया है, अपितु अनादि कालीन है; इसलिए उसे **अगृहीत / स्वाभाविक / निसर्गज मिथ्याज्ञान** कहते हैं।

छन्द - ८

अब, पण्डितश्री दौलतरामजी अगृहीत मिथ्याचारित्र का स्वरूप कहते हैं –

इन जुत विषयनि की जो प्रवृत्ति, ताकूं जानों मिथ्याचरित्त।
यों मिथ्यात्वादि निसर्ग एह, अब जे गृहीतु सुनिये जु तेह॥

अन्वयार्थ – (**इन जुत**) अगृहीत मिथ्यादर्शन और अगृहीत मिथ्याज्ञानसहित (**जो**) जो (**विषयनि की**) पाँच इन्द्रियों के विषयों की (**प्रवृत्ति**) प्रवृत्ति है, (**ताकूं**) उसे (**मिथ्याचरित**) अगृहीत मिथ्याचारित्र (**जानों**) समझो।

(**यों**) इस प्रकार (**निसर्ग**) अगृहीत (**मिथ्यात्वादि**) मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान, और मिथ्याचारित्र (**एह**) का कथन है। (**अब**) अब (**जे**) जो (**गृहीतु**) गृहीत मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र है, (**जु तेह**) उनका वर्णन (**सुनिये**) सुनो।

भावार्थ – अगृहीत मिथ्यादर्शन तथा अगृहीत मिथ्याज्ञानसहित पाँच इन्द्रियों के विषयों में प्रवृत्ति करना, अगृहीत मिथ्याचारित्र है। इन तीनों को दुःख का कारण जानकर, तत्त्वज्ञानपूर्वक इनका त्याग करना चाहिए।

स्पर्शन इन्द्रिय

रसना इन्द्रिय

घ्राण इन्द्रिय

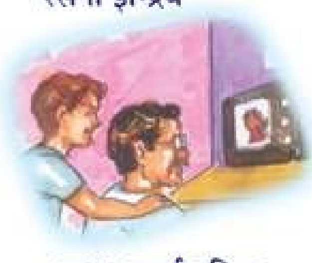
चक्षु, कर्ण इन्द्रिय

इस प्रकार, अगृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का वर्णन करके, अब गृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का वर्णन किया जा रहा है, जिसे सुनकर आत्मकल्याण के अभिलाषी जीवों को इनका (गृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का) परित्याग कर देना चाहिए।

छन्द - ९

गृहीत मिथ्यादर्शन और उसके विषयभूत कुगुरु का स्वरूप इस प्रकार है—

जे कुगुरु कुदेव कुधर्म सेव, पोषैं चिर दर्शनमोह एव।
अंतर रागादिक धरैं जेह, बाहिर धन अंबर तें सनेह॥

अन्वयार्थ - (**जे**) जो (**कुगुरु**) मिथ्या गुरु की, (**कुदेव**) मिथ्या देव की और (**कुधर्म**) मिथ्या धर्म की (**सेव**) सेवा करता है, वह (**चिर**) दीर्घकाल तक (**दर्शनमोह**) मिथ्यादर्शन (**एव**) ही (**पोषैं**) पोषता है।

(**जेह**) जो (**अंतर**) अन्तर में (**रागादिक**) मिथ्यात्व-राग-द्वेष आदि (**धरैं**) धारण करते हैं और (**बाहिर**) बाह्य में (**धन अंबर तें**) धन तथा वस्त्रादि से (**सनेह**) प्रेम रखते हैं, वे मिथ्या गुरु हैं...।

भावार्थ - कुगुरु, कुदेव और कुधर्म की सेवा करने से दीर्घकाल तक मिथ्यात्व का पोषण होता है; इसलिए कुगुरु, कुदेव और कुधर्म का सेवन, गृहीत मिथ्यादर्शन कहलाता है।

छ ह ढा ला

जिनागम में परिग्रह दो प्रकार का कहा गया है — एक अन्तरङ्ग और दूसरा बहिरङ्ग। मिथ्यात्व, राग-द्वेषादि अन्तरङ्ग परिग्रह है और वस्त्र, पात्र, धन, मकानादि बहिरङ्ग परिग्रह है। जो वस्त्रादि सहित होने पर भी अपने को जिनलिङ्गधारी मानते हैं, **वे कुगुरु** हैं।

कुगुरु, अन्तरङ्ग में मिथ्यात्व-रागादि परिग्रह से युक्त होता है और बाह्य में वस्त्र-धनादि के प्रति स्नेहभाव रखता है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने दर्शनपाहुड़, गाथा १८ में कहा है —

'जिनमार्ग में तीन लिङ्ग तो श्रद्धापूर्वक हैं। एक तो जिनस्वरूप निर्ग्रन्थ दिगम्बर मुनिलिङ्ग, दूसरा उत्कृष्ट श्रावकरूप दसवीं-ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावकलिङ्ग और तीसरा आर्यिकाओं का रूप - यह स्त्रियों का लिङ्ग — इन तीन के अतिरिक्त कोई चौथा लिङ्ग सम्यग्दर्शन स्वरूप नहीं है; इसलिए इन तीन के अतिरिक्त अन्य लिङ्गों को जो मानता है, उसे जिनमत की श्रद्धा नहीं है; वह मिथ्यादृष्टि है।'

इसलिए जो कुलिङ्ग के धारक हैं; मिथ्यात्वादि अन्तरङ्ग तथा वस्त्रादि बहिरङ्ग परिग्रहसहित हैं; अपने को मुनि मानते हैं व मनवाते हैं, वे कुगुरु हैं।

मनुष्यभव की उपयोगिता

हे भाई! आत्मा को भूलकर, भव में भटकते हुए अनन्त काल बीत गया, उसमें अति मूल्यवान यह मनुष्य अवतार और धर्म का ऐसा दुर्लभ योग तुझे प्राप्त हुआ है तो अब परमात्मा जैसा ही तेरा जो स्वभाव है, उसे दृष्टि में लेकर मोक्ष का साधन कर! प्रयत्नपूर्वक सम्यक्त्व प्रगट कर!! शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म की उपासना कर!!! और यदि इतना न बन सके तो श्रावकधर्म का जरूर पालन कर!

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

छन्द - १०

कुगुरु को पत्थर की नाव के समान बतलाते हुए, ग्रन्थकार यहाँ कुदेव का स्वरूप स्पष्ट करते हैं –

धारैं कुलिंग लह महत भाव, ते कुगुरु जन्म जल उपलनाव।
जे राग-द्वेष मल करि मलीन, वनिता गदादिजुत चिह्न चीन॥

अन्वयार्थ - ...... **(महत भाव)** महात्मापने का भाव **(लह)** ग्रहण करके **(कुलिंग)** मिथ्या वेषों को **(धारैं)** धारण करता है, वह **(कुगुरु)** कुगुरु है। **(ते)** वह कुगुरु, **(जन्म जल)** संसाररूपी समुद्र में **(उपलनाव)** पत्थर की नौका के समान है।

(जे) जो, **(राग-द्वेष मल करि मलीन)** राग-द्वेषरूपी मैल से मलिन हैं और **(वनिता)** स्त्री, **(गदादिजुत)** गदा आदि **(चिह्न चीन)** चिह्नों से पहिचाने जाते हैं, वे कुदेव हैं...।

भावार्थ - जिस प्रकार पत्थर की नौका स्वयं तो डूबती ही है, साथ ही उसमें बैठनेवाले भी डूबते हैं; उसी प्रकार कुगुरु स्वयं तो संसारसमुद्र में डूबते ही हैं, उनकी वन्दना तथा सेवा-भक्ति करनेवाले भी अनन्त संसार में डूबते हैं।

तात्पर्य यह है कि कुगुरु की श्रद्धा, भक्ति, पूजा, विनय तथा अनुमोदना करने से गृहीत मिथ्यात्व का सेवन होता है और उससे जीव, अनन्त काल तक भवभ्रमण करता है।

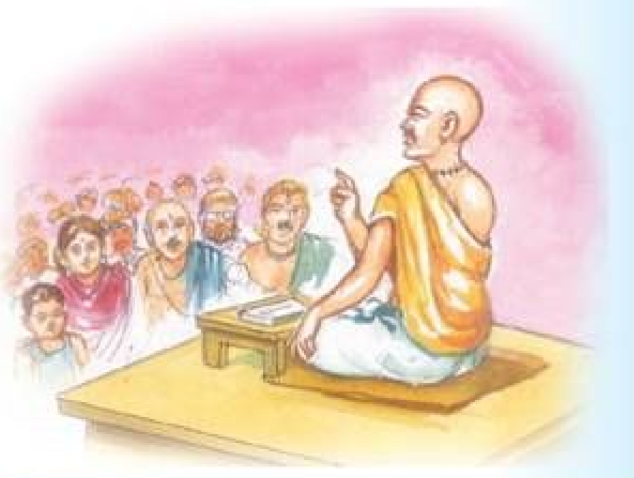

जो राग-द्वेषरूपी मैल से मलिन, अर्थात् रागी-द्वेषी हैं और स्त्री, गदा, आभूषण आदि चिह्नों से जिनको पहिचाना जा सकता है, **वे 'कुदेव' हैं।**

छन्द - ११

प्रस्तुत छन्द में कुदेवादि की सेवा से संसारभ्रमण बना रहता है – इस तथ्य को दृढ़ करते हुए, कुधर्म का स्वरूप दर्शाया जा रहा है –

ए हैं कुदेव तिनकी जु सेव, सठ करत न तिन भवभ्रमन छेव।
रागादि भावहिंसा समेंत, दरवित त्रस थावर मर्ण ख्रेत॥

अन्वयार्थ - (**ए**) वे, (**हैं कुदेव**) मिथ्यादेव हैं। (**तिनकी**) उन कुदेवों की (**जु**) जो (**सठ**) मूर्ख (**सेव करत**) सेवा करते हैं, (**तिन**) उनका (**भवभ्रमन**) संसार में भ्रमण (**न छेव**) नहीं मिटता।

(**रागादि भावहिंसा**) राग-द्वेष आदि भावहिंसा तथा (**त्रस-थावर**) त्रस और स्थावर जीवों के (**मर्ण ख्रेत**) मरण का स्थान (**दरवित**) द्रव्यहिंसा (**समेंत**) सहित क्रियाएँ, कुधर्म है...।

भावार्थ - जो अज्ञानी, ऐसे कुदेवों की सेवा; अर्थात्, पूजा, भक्ति और विनय करते हैं, वे इस संसार का अन्त नहीं कर सकते; अर्थात्, अनन्त काल तक उनका भवभ्रमण नहीं मिटता।

राग-द्वेष-मोहरूप भावहिंसा और त्रस-स्थावर जीवों की द्रव्यहिंसारूप सभी क्रियाएँ पाप हैं; उनमें धर्म मानना, **कुधर्म** है।

कुधर्म

छन्द - १२

गृहीत मिथ्यादर्शन के कथन को पूर्ण करते हुए, गृहीत मिथ्याज्ञान का वर्णन प्रारम्भ किया जा रहा है –

जे क्रिया तिंहि जानैं कुधर्म, तिन सर्धैं जीव लहै असर्म।
याकूं गृहीत मिथ्यात जानि, अब सुनि गृहीत जो है अज्ञान॥

अन्वयार्थ - द्रव्य और भावहिंसा सहित **(जे)** जो **(क्रिया)** कियाएँ हैं, **(तिंहैं)** उन्हें **(कुधर्म)** मिथ्याधर्म **(जानैं)** जानना चाहिए; **(तिन)** उनकी **(सर्धैं)** श्रद्धा करने से **(जीव)** आत्मा / प्राणी **(लहै असर्म)** दुःख पाते हैं।

(याकूं) कुगुरु, कुदेव और कुधर्म के श्रद्धान को **(गृहीत मिथ्यात)** गृहीत मिथ्यादर्शन **(जानि)** जानो। **(अब जो गृहीत)** अब, जो गृहीत **(अज्ञान)** मिथ्याज्ञान **(है)** है, उसका वर्णन **(सुनि)** सुनो।

भावार्थ – जिस धर्म में मिथ्यात्व तथा रागादिरूप भावहिंसा और त्रस तथा स्थावर जीवों के घातरूप द्रव्यहिंसा को धर्म माना जाता है, उसे कुधर्म कहते हैं। जो जीव, उस कुधर्म की श्रद्धा करता है, वह दु:ख प्राप्त करता है।

इस प्रकार मिथ्या गुरु, देव और धर्म की श्रद्धा करना, **गृहीत मिथ्यादर्शन** है। यह परोपदेश आदि बाह्य कारण के आश्रय से ग्रहण किया जाता है; इसलिए '**गृहीत**' कहलाता है। **गृहीत मिथ्यात्व, सप्त व्यसनादि तथा हिंसादि पापों से भी भयङ्कर पाप है।**

'कुदेवादिक के सेवन से जो मिथ्यात्वभाव होता है, सो वह हिंसादिक पापों से बड़ा पाप है। इसके फल से निगोद, नरकादि पर्यायें पायी जाती हैं। वहाँ अनन्त कालपर्यन्त महा-सङ्कट पाया जाता है, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति महा-दुर्लभ हो जाती है।

जिनधर्म में यह तो आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छुड़ाकर फिर छोटा पाप छुड़ाया है; इसलिए इस मिथ्यात्व को सप्त व्यसनादिक से भी बड़ा पाप जानकर पहले छुड़ाया है। इसलिए जो पाप के फल से डरते हैं, अपने आत्मा को दुःख समुद्र में नहीं डुबाना चाहते, वे जीव इस मिथ्यात्व को अवश्य छोड़ो; निन्दा-प्रशंसादिक के विचार से शिथिल होना योग्य नहीं है।' (-मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ १९१-१९२)

इस प्रकार गृहीत मिथ्यादर्शन का वर्णन करके, अब गृहीत मिथ्याज्ञान का वर्णन किया जाता है।

धर्मात्मा की दृष्टि

धर्मात्मा को शुद्धता के साथ रहनेवाले शुभभाव से ऊँचा पुण्य बँधता है परन्तु उसकी दृष्टि तो आत्मा की शुद्धता को साधने पर है। जो जीव, सम्यग्दर्शन प्रगट नहीं करे और मात्र शुभराग से ही मोक्ष होना मानकर उसमें अटका रहे, वह मोक्ष प्राप्त नहीं कर सकता, उसे तो श्रावकपना भी सच्चा नहीं होता। कोई जीव, धर्म की आराधना कर रहा हो तो उसे देखकर धर्मी को उसके प्रति प्रमोद आता है क्योंकि उसे स्वयं को आराधना का तीव्र प्रेम है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

छन्द - १३

इस छन्द में अत्यन्त कष्टकारी गृहीत मिथ्याज्ञान का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं –

एकान्तवाद दूषित समस्त, विषयादिक पोषक अप्रसस्त।
रागी कुमतिन कृति श्रुति अभ्यास, सो है कुबोध बहु दैंन त्रास॥

अन्वयार्थ – (**एकान्तवाद**) एकान्तरूप कथन से (**दूषित**) दूषित और (**विषयादिक**) पाँच इन्द्रियों के विषय आदि की (**पोषक**) पुष्टि करनेवाले, (**रागी कुमतिन कृति**) रागी व अज्ञानियों द्वारा रचित (**समस्त**) समस्त (**अप्रसस्त**) मिथ्या (**श्रुति**) शास्त्रों का (**अभ्यास**) पढ़ना-पढ़ाना, सुनना और सुनाना, (**सो**) वह (**कुबोध**) मिथ्याज्ञान (**है**) है, जो (**बहु**) बहुत (**त्रास**) दुःख (**दैंन**) देनेवाला है।

भावार्थ – वस्तु अनेक धर्मात्मक है। वस्तु के किसी एक ही धर्म को पूर्ण वस्तु कहनेवाले दूषित / मिथ्या तथा विषय-कषायादि की पुष्टि करनेवाले, कुगुरुओं

द्वारा रचित सर्व प्रकार के मिथ्या शास्त्रों को धर्मबुद्धि से लिखना-लिखाना, पढ़ना-पढ़ाना, सुनना और सुनाना, **गृहीत मिथ्याज्ञान** है।

जगत में सर्वथा नित्य, एक, अद्वैत और सर्व व्यापक ब्रह्ममात्र वस्तु है; अन्य कोई पदार्थ नहीं है — जो शास्त्र, ऐसा वर्णन करता है, वह एकान्तवाद से दूषित होने के कारण **कुशास्त्र** है।

जो शास्त्र, वस्तु को सर्वथा क्षणिक; अर्थात्, अनित्य बतलाता है; जो शास्त्र, गुण-गुणी सर्वथा भिन्न हैं; किसी गुण के संयोग से वस्तु है — ऐसा कथन करता है; जो शास्त्र, जगत का कोई कर्ता-हर्ता और नियन्ता है — ऐसा वर्णन करता है; जो शास्त्र, दया-दान-व्रतादिक शुभराग, जो पुण्यास्रव है, पराश्रय है, उससे तथा शुभभाव से संसार परित / अल्प, मर्यादित होना तथा उपदेश देने के शुभभाव से परमार्थरूप धर्म होना बतलाता है — इत्यादि स्वमति कल्पनाओं से रचित ग्रन्थ एकान्त और अप्रशस्त होने के कारण कुशास्त्र हैं क्योंकि उनमें प्रयोजनभूत सात तत्त्वों की यथार्थता नहीं है। जहाँ एक तत्त्व की भूल है, वहाँ सातों तत्त्व की भूल होती ही है — ऐसा समझना चाहिए।

चैतन्यस्वरूप की अद्भुत महिमा!

देखो! इस चैतन्यस्वरूप की अद्भुत महिमा! उसके ज्ञानस्वभाव में समस्त ज्ञेय पदार्थ स्वयमेव झलकते हैं किन्तु वह स्वयं ज्ञेयरूप नहीं परिणमता है और उस झलकने में (जानने में) विकल्प का अंश भी नहीं है; इसलिए उसके निर्विकल्प, अतीन्द्रिय, अनुपम, बाधारहित और अखण्ड सुख उत्पन्न होता है। ऐसा सुख संसार में नहीं है; संसार में तो दु:ख ही है। अज्ञानी जीव, इस दु:ख में भी सुख का अनुमान करते हैं किन्तु वह सच्चा सुख नहीं है।

— समाधिमरण, पण्डित गुमानीरामजी

छन्द - १४

अब, कहते हैं कि आत्मज्ञान के अभाव में अज्ञानी की सभी क्रियाएँ गृहीत मिथ्याचारित्र हैं –

जे ख्याति लाभ पूजादि चाह, धरि करत विविधि विधि देह दाह।
आतम अनात्म के ज्ञान हीन, जे जे करनी तन करन क्षीन॥

अन्वयार्थ - (**जे**) जो (**ख्याति**) प्रसिद्धि, (**लाभ**) लाभ तथा (**पूजादि**) मान्यता, आदर-सन्मान आदि की (**चाह धरि**) इच्छा करके, (**देह दाह**) शरीर को कष्ट देनेवाली (**आतम अनात्म के**) आत्मा और परवस्तुओं के (**ज्ञान हीन**) भेदज्ञान से रहित, (**तन**) शरीर को (**क्षीन**) क्षीण (**करन**) करनेवाली (**विविधि विधि**) अनेक प्रकार की (**जे जे करनी**) जो भी क्रियाएँ (**करत**) करता है, वे सब मिथ्याचारित्र हैं।

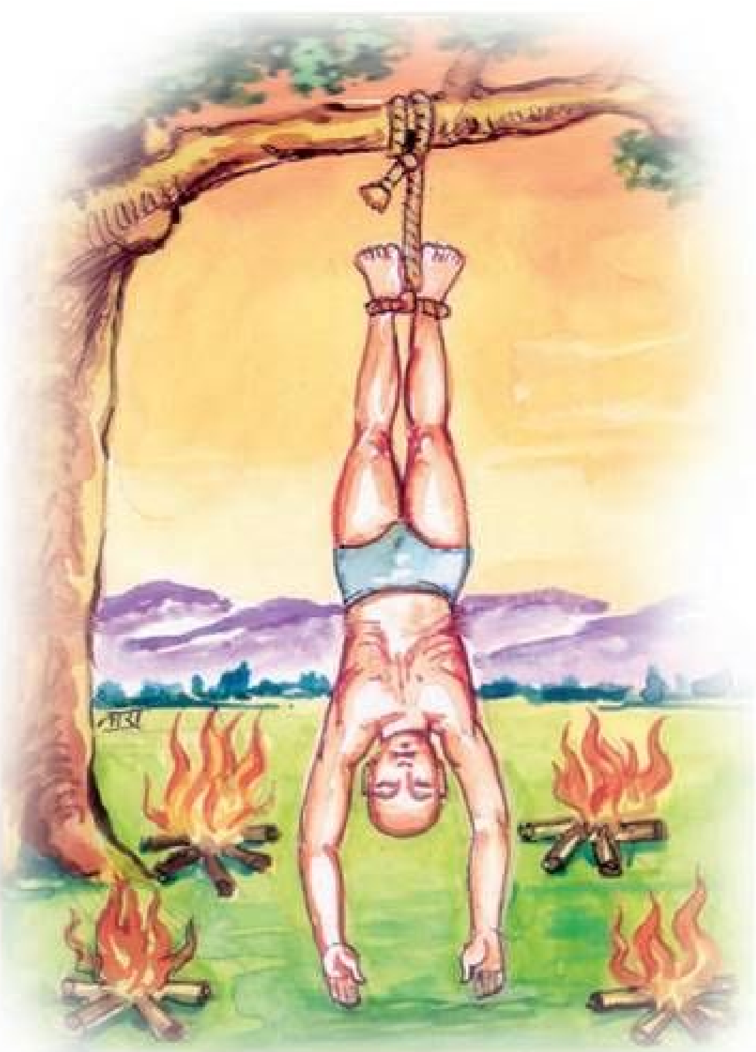

भावार्थ - शरीर और आत्मा के भेदज्ञान से रहित, यश, धन-सम्पत्ति, आदर -सत्कार आदि की इच्छा से अथवा मानादि कषाय के वशीभूत होकर, शरीर को क्षीण करनेवाली सभी क्रियाएँ, **गृहीत मिथ्याचारित्र** हैं।

छन्द - १५

अब, द्वितीय ढाल के अन्त में कविवर पण्डित दौलतरामजी, अत्यन्त करुणापूर्वक इन कष्टकारी मिथ्याभावों का परित्याग करने और आत्महित में लगने की पावन प्रेरणा देते हैं –

ते सब मिथ्याचारित्र त्यागि, अब आतम के हित पंथ लागि।
जगजाल भ्रमण कों देय त्यागि, अब दौलहि! निज आतम सुपागि॥

अन्वयार्थ - (**ते**) उस (**सब**) समस्त (**मिथ्याचारित्र**) मिथ्याचारित्र को (**त्यागि**) छोड़कर, (**अब**) अब (**आतम के**) आत्मा के (**हित**) कल्याण के (**पंथ**) मार्ग में (**लागि**) लग जाओ; (**जगजाल**) संसाररूपी जाल में (**भ्रमण कों**) भटकना (**देय त्यागि**) छोड़ दो। (**दौलहि**) हे दौलतराम! (**निज आतम**) अपने आत्मा में (**अब**) अब (**सुपागि**) भली-भाँति लीन हो जाओ!

भावार्थ - आत्महितैषी जीव को निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र ग्रहण करके, गृहीत तथा अगृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र का त्याग करके, आत्मकल्याण के मार्ग में लगना चाहिए। पण्डित दौलतरामजी अपने आत्मा को सम्बोधन करके कहते हैं - 'हे आत्मन्! पराश्रयरूप संसार; अर्थात्, पुण्य-पाप में भटकना छोड़कर, सावधानीपूर्वक आत्मस्वरूप में लीन होओ!'

यहाँ **'ते सब मिथ्याचारित्र'** शब्दों से मिथ्यादर्शन-मिथ्याज्ञान का भी समावेश हो जाता है — ऐसा समझना चाहिए।

दूसरी ढाल का सारांश

यह जीव, मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्याचारित्र के वश होकर, चार गतियों में परिभ्रमण करके, प्रति समय अनन्त दुःख भोग रहा है। जब तक यह देहादि से भिन्न अपने आत्मा की सच्ची प्रतीति तथा रागादि का अभाव नहीं करता, तब तक सुख-शान्ति की प्राप्ति और आत्मा का उद्धार नहीं कर सकता।

आत्महित के लिए; अर्थात्, सुखी होने के लिए जब तक यह जीव –

१. सच्चे देव, गुरु और धर्म की यथार्थ प्रतीति,

२. जीवादि सात तत्त्वों की यथार्थ प्रतीति,

३. स्व-पर के स्वरूप की श्रद्धा, और

४. निज शुद्धात्मा के प्रतिभासरूप आत्मा की श्रद्धा।

– इन चार लक्षणों के अविनाभावसहित सत्य श्रद्धारूप निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट नहीं करता, तब तक जीवात्मा का उद्धार नहीं हो सकता; अर्थात्, धर्म का प्रारम्भ नहीं हो सकता और आत्मा को अंशमात्र भी सच्चा अतीन्द्रिय सुख प्रगट नहीं हो सकता।

सात तत्त्वों की मिथ्याश्रद्धा को मिथ्यादर्शन कहते हैं। उस मिथ्यादर्शन के कारण यह जीव, आत्मस्वरूप की विपरीत श्रद्धा करके, ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, शरीरादि नोकर्म तथा पुण्य-पापरूप रागादि मलिनभाव / भावकर्म में एकत्वबुद्धि -कर्तृत्त्वबुद्धि करता है। इसलिए शुभराग तथा पुण्य हितकर है; शरीरादि परपदार्थों की अवस्था / क्रिया मैं कर सकता हूँ; पर मुझे लाभ-हानि कर सकता है, तथा मैं पर का कुछ कर सकता हूँ – इत्यादि मान्यताओं के कारण, उसे सत्-असत् का विवेक नहीं होता। उसे यह भी पता नहीं होता कि सच्चा सुख तथा आत्महितरूप सम्यक्श्रद्धा-ज्ञान -चारित्र अपने आत्मा के आश्रय से ही होते हैं; पर से नहीं।

छ ह ढा ला

पुनश्च; कुदेव-कुगुरु-कुशास्त्र और कुधर्म की श्रद्धा-पूजा, सेवा तथा विनय करने की जो प्रवृत्ति है, वह अपने मिथ्यात्वादि महान दोषों को पुष्ट करनेवाली होने से दुःखदायक है, अनन्त संसार-भ्रमण का कारण है। जो जीव, उनका सेवन करता है, उसे कर्तव्य समझता है, वह दुर्लभ मनुष्य-जीवन को नष्ट करता है।

अगृहीत मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र, जीव को अनादि काल से होते हैं, फिर वह मनुष्य होने के पश्चात् कुशास्त्रों का अभ्यास करके अथवा कुगुरु का उपदेश स्वीकार करके गृहीत मिथ्याज्ञान-मिथ्याश्रद्धा धारण करता है तथा कुमत का अनुसरण करके मिथ्याक्रिया करता है, वह गृहीत मिथ्याचारित्र है। इसलिए जीव को भली-भाँति सावधान होकर गृहीत तथा अगृहीत – दोनों प्रकार के मिथ्याभाव छोड़ने योग्य हैं तथा आत्मस्वभाव का यथार्थ निर्णय करके निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट करना योग्य है।

इस जीव ने मिथ्याभावों का सेवन करके, संसार में भटककर, अनन्त जन्म धारण करके अनन्त काल गँवा दिया है; इसलिए अब सावधान होकर आत्मोद्धार करना चाहिए।

इस प्रकार अध्यात्मप्रेमी कविवर पण्डित दौलतरामजी द्वारा रचित छहढाला में संसार दुःख का मूल कारण 'मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र' का निरूपण करनेवाली दूसरी ढाल पूर्ण हुई।

जिनमत की आम्नाय

जिन धर्म में यह तो आम्नाय है कि पहले बड़ा पाप छुड़ाकर फिर छोटा पाप छुड़ाया है; इसलिए इस मिथ्यात्व को सप्त व्यसनादिक से भी बड़ा पाप जानकर पहले छुड़ाया है। इसलिए जो पाप के फल से डरते हैं; अपने आत्मा को दुःख समुद्र में नहीं डुबाना चाहते, वे जीव इस मिथ्यात्व को अवश्य छोड़ो; निन्दा–प्रशंसादिक के विचार से शिथिल होना योग्य नहीं है।

— मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ 192

तीसरी ढाल

मुक्तिमार्ग का पहला चरण

सम्यग्दर्शन : स्वरूप एवं महिमा

छन्द - १

अब, कविवर दौलतरामजी, संसार दुःखों से त्रस्त जीवों को मोक्षमार्ग में लगने की पावन प्रेरणा देते हुए, निश्चय-व्यवहाररूप मोक्षमार्ग का वर्णन प्रारम्भ करते हैं –

॥ नरेन्द्र छन्द ॥ (जोगीरासा)

आतम कौ हित है सुख, सों सुख आकुलता बिनु कहियै।
आकुलता शिवमाहि न तातें, शिवमग लागौ चहियै॥
सम्यक्‌दर्शन-ज्ञान-चरण, शिवमग सो दुविध विचारौ।
जो सत्यारथ रूप सुनिश्चय, कारन सौ व्यवहारौ॥

अन्वयार्थ - (**आतम कौ**) आत्मा का (**हित**) कल्याण (**सुख**) सुख की प्राप्ति (**है**) है, (**सों सुख**) वह सुख (**आकुलता बिनु**) आकुलतारहित (**कहियै**) कहा है। (**आकुलता**) आकुलता (**शिवमाहि**) मोक्ष में (**न**) नहीं है; (**तातें**) इसलिए (**शिवमग**) मोक्षमार्ग में (**लागौ**) लगना (**चहियै**) चाहिए। (**सम्यक्‌दर्शन-ज्ञान-चरण**) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र — इन तीनों की एकता, (**शिवमग**) मोक्ष का मार्ग है। (**सो**) उस मोक्षमार्ग का (**दुविध**) दो प्रकार से (**विचारौ**) विचार करना चाहिए। (**जो**) जो (**सत्यारथ रूप**) वास्तविक स्वरूप है, वह (**सुनिश्चय**) श्रेष्ठ निश्चयमोक्षमार्ग है और (**कारण**) जो उस श्रेष्ठ निश्चयमोक्षमार्ग का निमित्त कारण है, (**सौ**) वह (**व्यवहारौ**) व्यवहार-मोक्षमार्ग है।

भावार्थ – दूसरी ढाल के अन्तिम छन्द में मिथ्यात्वादिभावों का परित्याग करके, 'आत्महित' के मार्ग में लगने की प्रेरणा दी गयी थी। अब, आत्महित को परिभाषित करते हुए कहा गया है कि आत्मा का हित, सुख है और सुख का लक्षण, निराकुलता है। आकुलता का सम्पूर्ण अभाव मोक्षदशा में है; इसलिए मोक्ष की प्राप्ति हेतु मोक्षमार्ग में लगना ही जीव का कर्तव्य है।

मोक्षमार्ग का स्वरूप बताते हुए यहाँ कहा गया है कि सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकता ही मोक्षमार्ग है। यद्यपि मोक्षमार्ग दो नहीं हैं, तथापि मोक्षमार्ग का कथन दो प्रकार से है; इसलिए यहाँ ग्रन्थकार ने '**शिवमग सो दुविध विचारो**' शब्द का प्रयोग किया है।

यहाँ निश्चय-व्यवहार मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में आवश्यक स्पष्टीकरण दिया जा रहा है, जो प्रत्येक आत्मार्थी को अनुप्रेक्षणीय है, साथ ही जिस प्रकार मोक्षमार्ग के सन्दर्भ में यह स्पष्टीकरण किया गया है; उसी प्रकार सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के सन्दर्भ में भी समझ लेना चाहिए।

● सम्यक्चारित्र, निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक ही होता है। जीव को निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ ही सम्यक् भावश्रुतज्ञान होता है। निश्चयनय तथा व्यवहारनय – ये दोनों सम्यक् श्रुतज्ञान के अवयव (अंश) हैं; इसलिए मिथ्यादृष्टि को

निश्चय या व्यवहारनय हो ही नहीं सकते; अतः 'व्यवहार, प्रथम होता है और निश्चय, बाद में प्रगट होता है' – ऐसा माननेवाले को नयों के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान नहीं है।

● नय निरपेक्ष नहीं होते। निश्चयसम्यग्दर्शन प्रगट होने से पूर्व यदि व्यवहारनय हो तो व्यवहारनय, निश्चयनय की अपेक्षारहित निरपेक्ष हुआ और यदि पहले अकेला व्यवहारनय हो तो अज्ञानदशा में सम्यक्‌नय मानना पड़ेगा, किन्तु **निरपेक्षा नयाः मिथ्या सापेक्षा वस्तु तेऽर्थकृत** *(आप्तमीमांसा, श्लोक १०८)* – ऐसा आगम का वचन है; इसलिए अज्ञानदशा में किसी जीव को व्यवहारनय नहीं हो सकता, किन्तु व्यवहारभास अथवा निश्चयाभासरूप मिथ्यानय हो सकता है।

● जब जीव, निज ज्ञायकस्वभाव के आश्रय द्वारा निश्चयरत्नत्रय; अर्थात्, मोक्षमार्ग प्रगट करता है, तब सर्वज्ञ कथित नव तत्त्व, सच्चे देव-शास्त्र-गुरु की श्रद्धा सम्बन्धी रागमिश्रित विचार तथा मन्दकषायरूप शुभभाव, जो उस जीव को पूर्व काल में था, उसे भूतनैगमनय से व्यवहारकारण कहा जाता है।

(- परमात्मप्रकाश, २/१४ टीका के आधार से)

● उसी जीव को निश्चय सम्यग्दर्शन की भूमिका में शुभराग और निमित्त किस प्रकार के होते हैं? – उनका सहचरपना बतलाने के लिए वर्तमान शुभराग को व्यवहारमोक्षमार्ग कहते हैं। ऐसा कहने का कारण यह है कि उससे भिन्न प्रकार के; अर्थात्, विरुद्ध निमित्त, उस दशा में किसी को नहीं हो सकते। – इस प्रकार निमित्त / व्यवहार होता है, तथापि वह यथार्थ कारण नहीं है।

● आत्मा स्वयं ही सुखस्वरूप है; इसलिए सुख, आत्मा के आश्रय से ही प्रगट हो सकता है; किसी निमित्त या व्यवहार के आश्रय से सुख प्रगट नहीं हो सकता।

● मोक्षमार्ग तो एक ही है, वह निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र की एकतारूप है।

इस सम्बन्ध में मोक्षमार्गप्रकाशक में कहा है –

'अब, मोक्षमार्ग तो कहीं दो नहीं हैं किन्तु मोक्षमार्ग का निरूपण दो प्रकार से है। जहाँ मोक्षमार्ग के रूप में सच्चे मोक्षमार्ग की प्ररूपणा की है, वह निश्चयमोक्षमार्ग है तथा जहाँ जो मोक्षमार्ग तो नहीं है किन्तु मोक्षमार्ग का निमित्त व सहचारी है, वहाँ उसे उपचार से मोक्षमार्ग कहना व्यवहारमोक्षमार्ग है क्योंकि निश्चय -व्यवहार का सर्वत्र ऐसा ही लक्षण है; अर्थात्, यथार्थनिरूपण सो निश्चय और उपचारनिरूपण सो व्यवहार; इसलिए निरूपण की अपेक्षा से दो प्रकार का मोक्षमार्ग जानना, किन्तु एक निश्चयमोक्षमार्ग है और दूसरा व्यवहारमोक्षमार्ग है – इस प्रकार दो मोक्षमार्ग मानना मिथ्या है।' *(- मोक्षमार्गप्रकाशक, सातवाँ अधिकार, पृष्ठ २४८)*

छन्द - २

निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र का स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिए –

परद्रव्यन तें भिन्न आप में, रुचि सम्यक्त भला है।
आपरूप कौ जानपणौं सो, सम्यक्‌ज्ञान कला है॥
आपरूप में लीन रहै थिर, सम्यक्‌चारित सोई।
अब व्यवहार मोखमग सुनियै, हेतु नियत कौ होई॥

अन्वयार्थ – (**आप में**) आत्मा में (**परद्रव्यन तें**) परवस्तुओं से (**भिन्न**) भिन्नत्व की (**रुचि**) श्रद्धा करना, सो (**भला**) निश्चय (**सम्यक्त है**) सम्यग्दर्शन है। परद्रव्यों से भिन्न (**आप रूप कौ**) आत्मा के स्वरूप को (**जानपणौं**) जानना, (**सो**) वह (**सम्यक्‌ज्ञान**) निश्चयसम्यग्ज्ञान (**कला**) प्रकाश (**है**) है। परद्रव्यों से भिन्न (**आपरूप में**) आत्मस्वरूप में (**थिर**) स्थिरतापूर्वक (**लीन रहै**) लीन होना, वह (**सम्यक्‌चारित**) निश्चयसम्यक्‌चारित्र (**सोई**) है। (**अब**) अब (**व्यवहार मोखमग**) व्यवहारमोक्षमार्ग (**सुनिये**) सुनो। व्यवहारमोक्षमार्ग, (**नियत को**) निश्चयमोक्षमार्ग का (**हेतु**) निमित्त कारण (**होई**) है।

निश्चयसम्यक्‌चारित्र

निश्चयसम्यग्दर्शन

निश्चयसम्यग्ज्ञान

भावार्थ - परपदार्थों से त्रिकाल भिन्न, निज-आत्मा का अटल विश्वास करना, निश्चयसम्यग्दर्शन है। आत्मा को परवस्तुओं से भिन्न जानना, निश्चय-सम्यग्ज्ञान है, तथा परद्रव्यों का आलम्बन छोड़कर, आत्मस्वरूप में एकाग्रता से मग्न होना, निश्चयसम्यक्चारित्र है।

अब, व्यवहारमोक्षमार्ग का कथन करते हैं क्योंकि जब निश्चयमोक्षमार्ग हो, तब निमित्तरूप व्यवहारमोक्षमार्ग कैसा होता है ? — यह जानना चाहिए।

प्रयोजनभूत जीवादि सात तत्त्व

१. जिसमें मेरा ज्ञानदर्शन हो, वह जीवतत्त्व है। जीवतत्त्व, एकमात्र आश्रय करने योग्य प्रयोजनभूत तत्त्व है।

२. जिनमें मेरा ज्ञानदर्शन नहीं हैं, वे अजीवतत्त्व हैं। मुझ निजात्मा के अलावा विश्व में अनन्त जीवद्रव्य, अनन्तानन्त पुद्गलद्रव्य, धर्म-अधर्म आकाश एक-एक द्रव्य और लोकप्रमाण असंख्यात कालद्रव्य हैं, ये सब द्रव्य जाननेयोग्य प्रयोजनभूत तत्त्व हैं।

३. शुभाशुभ विकारीभावों का उत्पन्न होना, आस्रवतत्त्व है। आस्रवतत्त्व, छोड़ने योग्य प्रयोजनभूत तत्त्व हैं।

४. शुभाशुभ विकारीभावों में अटकना, बन्धतत्त्व है। बन्धतत्त्व, छोड़ने योग्य प्रयोजनभूत तत्त्व है।

५. शुद्धि का प्रगट होना, संवरतत्त्व है। संवरतत्त्व, प्रगट करने योग्य एकदेश प्रयोजनभूत तत्त्व है।

६. शुद्धि की वृद्धि होना, निर्जरातत्त्व है। निर्जरातत्त्व, प्रगट करने योग्य एकदेश प्रयोजनभूत तत्त्व हैं।

७. सम्पूर्ण शुद्धि का प्रगट होना, मोक्षतत्त्व है। मोक्षतत्त्व, पूर्ण प्रगट करने योग्य प्रयोजनभूत तत्त्व है।

- पण्डित कैलाशचन्द जैन

छन्द - ३

व्यवहारसम्यग्दर्शन का निरुपण करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं –

जीव अजीव तत्त्व अरु आस्रव, बंध रु संवर जानों।
निर्जर मोख कहै जिन तिनकों, जों कौ त्यौं सरधानों॥
है सोई समकित व्यवहारी, अब इन रूप बखानों।
तिनकूं सुनि सामान्य विशेषै, दिट प्रतीति उर आनौ॥

अन्वयार्थ - (**जिन**) जिनेन्द्रदेव ने (**जीव**) जीव, (**अजीव**) अजीव, (**आस्रव**) आस्रव, (**बंध**) बन्ध, (**संवर**) संवर, (**निर्जर**) निर्जरा, (**अरु**) और (**मोख**) मोक्ष (**तत्त्व**) — ये सात तत्त्व (**कहै**) कहे हैं; (**तिनकों**) उन सबकी (**जों कौ त्यौं**) यथावत्-यथार्थरूप से (**सरधानों**) श्रद्धा करो। (**सोई**) इस प्रकार श्रद्धा करना, वह (**समकित व्यवहारी**) व्यवहार से सम्यग्दर्शन (**है**) है। (**अब इन**

रूप) अब, इन सात तत्त्वों के स्वरूप का (**बखानों**) वर्णन करते हैं, (**तिनकूं**) उन्हें (**सामान्य विशेषै**) संक्षेप से तथा विस्तार से (**सुनि**) सुनकर (**उर**) मन में (**दिट**) अटल (**प्रतीति**) श्रद्धा (**आनौ**) करो।

भावार्थ - यहाँ निश्चयसम्यग्दर्शन के साथ होनेवाले व्यवहारसम्यग्दर्शन का वर्णन है। जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन न हो, उसे व्यवहारसम्यग्दर्शन भी नहीं हो सकता। निश्चयश्रद्धापूर्वक सात तत्त्वों की विकल्प-रागसहित श्रद्धा को व्यवहारसम्यग्दर्शन कहा जाता है।

यहाँ सात तत्त्वों की श्रद्धा भेदरूप है, रागसहित है; इसलिए वह व्यवहारसम्यग्दर्शन है। निश्चयमोक्षमार्ग में कैसा निमित्त होता है ? — यह बतलाने के लिए तीसरा छन्द कहा है किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि निश्चयसम्यक्त्व के बिना किसी को व्यवहारसम्यक्त्व हो सकता है।

निज जीवतत्त्व का स्वरूप

चेतन को है उपयोगरूप बिनमूरत चिन्मूरत अनूप।
पुद्गल नभ धर्म अधर्म काल, इनतें न्यारी है जीव चाल॥

- मैं, ज्ञानदर्शन उपयोगमयी जीवतत्त्व हूँ।
- मेरा कार्य, ज्ञाता-दृष्टा है।
- आँख-नाक-नाक औदारिक आदि शरीरोंरूप मेरी मूर्ति नहीं है।
- चैतन्य अरूपी असंख्यात प्रदेशी मेरा एक आकार है।
- सर्वज्ञस्वभावी ज्ञानपदार्थ होने से मुझ आत्मा ही अनुपम है।
- मुझ निज आत्मा के अलावा विश्व में अनन्त जीवद्रव्य हैं, अनन्तानन्त पुद्गलद्रव्य हैं, धर्म-अधर्म-आकाश एक-एक द्रव्य है और लोकप्रमाण असंख्यात कालद्रव्य हैं — इन सब द्रव्यों से मुझ आत्मा की चाल सर्वथा भिन्न है क्योंकि इन सब द्रव्यों का और मुझ आत्मा का द्रव्य - क्षेत्र-काल-भाव सर्वथा अलग-अलग है।

— पण्डित कैलाशचन्द जैन

छन्द - ४

पर्यायदृष्टि से जीवतत्त्व के भेद-प्रभेद और उनका स्वरूप इस प्रकार है –

बहिरातम, अंतर आतम, परमातम जीव त्रिधा है।
देह जीव कूं एक गिनें बहिरातम तत्त्व मुधा है॥
उत्तम मध्य जघन्य त्रविधि के, अंतर आतम ज्ञानी,
दुविध संघ बिनु सुध उपयोगी, मुनि उत्तम निज ध्यानी॥

अन्वयार्थ - (**बहिरातम**) बहिरात्मा, (**अंतर आतम**) अन्तरात्मा और (**परमातम**) परमात्मा — इस प्रकार (**जीव**) जीव (**त्रिधा**) तीन प्रकार के (**है**) हैं। उनमें (**देह जीव कूं**) जो शरीर और आत्मा को (**एक गिनें**) एक मानता है, वह (**बहिरातम**) बहिरात्मा है और वह बहिरात्मा (**तत्त्व मुधा**) यथार्थ तत्त्वों से

अजान; अर्थात्, तत्त्वमूढ़ मिथ्यादृष्टि है। **(आतम ज्ञानी)** आत्मा को परवस्तुओं से भिन्न जानकर यथार्थ निश्चय करनेवाले **(अंतर आतम)** अन्तरात्मा कहलाते हैं, वे **(उत्तम)** उत्तम **(मध्य)** मध्यम और **(जघन्य)** जघन्य — ऐसे **(त्रविधि के)** तीन प्रकार के हैं। उनमें **(दुविध)** अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग — ऐसे दो प्रकार के **(संघ बिनु)** परिग्रहरहित **(शुध उपयोगी)** शुद्ध उपयोगी **(निज ध्यानी)** आत्मध्यानी **(मुनि)** दिगम्बर मुनिराज **(उत्तम)** उत्तम अन्तरात्मा हैं।

भावार्थ – अवस्थादृष्टि की अपेक्षा से जीव / आत्मा तीन प्रकार के हैं — १. बहिरात्मा, २. अन्तरात्मा, और ३. परमात्मा। उनमें जो शरीर और आत्मा को एक मानता है, उसे बहिरात्मा कहते हैं; वह तत्त्वमूढ़ मिथ्यादृष्टि है। वस्तुतः सम्यग्दर्शन के बिना कभी धर्म का प्रारम्भ नहीं होता; इसलिए जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन नहीं है, वह जीव बहिरात्मा है।

जो भेदविज्ञान से शरीर और आत्मा को भिन्न-भिन्न जानते-मानते हैं, वे अन्तरात्मा; अर्थात्, सम्यग्दृष्टि हैं। अन्तरात्मा के तीन भेद हैं — उत्तम, मध्यम, और जघन्य।

अन्तरङ्ग तथा बहिरङ्ग, दोनों प्रकार के परिग्रह से रहित, सातवें से बारहवें गुणस्थान में वर्तते हुए शुद्ध-उपयोगी आत्मध्यानी दिगम्बर मुनिराज उत्तम अन्तरात्मा हैं।

छन्द - ५

इस छन्द में पण्डितप्रवर ने मध्यम व जघन्य अन्तरात्मा के स्वरूप तथा परमात्मा के भेदों का वर्णन किया है –

मध्यम अन्तर आतम हैं जे, देशव्रती आगारी।
जघन्य कहै अविरत समदिष्टी, तीनौ शिवमगचारी॥
सकल निकल परमातम द्वै विधि, तिनमें घाति निवारी।
सो अर्हंत सकल परमातम, लोकालोक निहारी॥

अन्वयार्थ - **(जे आगारी)** जो गृहरहित छठवें गुणस्थान के समय अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग परिग्रहरहित यथाजातरूपधर-भावलिङ्गी मुनि, तथा **(देशव्रती)** दो कषाय के अभावसहित पञ्चम गुणस्थानवर्ती श्रावक हैं, वे **(मध्यम)** मध्यम **(अन्तर-आतम)** अन्तरात्मा **(हैं)** हैं और **(अविरत)** व्रतरहित

(समदिष्टी) सम्यग्दृष्टि जीव, **(जघन्य)** जघन्य अन्तरात्मा **(कहे)** कहे हैं। **(तीनौं)** ये तीनों ही **(शिवमगचारी)** मोक्षमार्ग पर चलनेवाले हैं।

(सकल निकल) सकल और निकल के भेद से **(परमातम)** परमात्मा **(द्वै विधि)** दो प्रकार के हैं। **(तिनमें)** उनमें **(घाति)** चार घातिकर्मों को **(निवारी)** नाश करनेवाले, **(लोकालोक)** लोक तथा अलोक को **(निहारी)** जानने–देखनेवाले, **(सो अर्हंत)** वे अरहन्त परमेष्ठी **(सकल)** शरीरसहित **(परमातम)** परमात्मा हैं।

भावार्थ – जो निश्चयसम्यग्दर्शनादि सहित हैं; तीन चौकड़ी कषाय से रहित शुद्धोपयोगरूप मुनिधर्म अङ्गीकार करके, अन्तरङ्ग में तो उस शुद्धोपयोग द्वारा स्वयं अपना अनुभव करते हैं; किसी को इष्ट–अनिष्ट मानकर राग–द्वेष नहीं करते; हिंसादिरूप अशुभोपयोग का तो अस्तित्व ही जिनके नहीं रहा है — ऐसी अन्तरङ्ग दशासहित बाह्य दिगम्बर सौम्यमुद्राधारी हुए हैं और छठवें प्रमत्तसंयत गुणस्थान के समय अट्टाईस मूलगुणों का अखण्डरूप से पालन करते हैं, वे तथा जो अनन्तानुबन्धी एवं अप्रत्याख्यानावरणीरूप दो कषाय के अभावसहित देशव्रती श्रावक हैं, वे **मध्यम अन्तरात्मा** हैं; अर्थात्, छठवें और पाँचवें गुणस्थानवर्ती जीव, **मध्यम अन्तरात्मा** हैं।

मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी कषाय के अभावसहित, व्रतरहित चौथे गुणस्थानवर्ती सम्यग्दृष्टि जीव, **जघन्य अन्तरात्मा** हैं।

ये तीनों ही मोक्षमार्गी हैं।

परमात्मा के दो प्रकार हैं — सकल और निकल। श्री अरहन्त परमात्मा **सकल**; अर्थात्, शरीरसहित परमात्मा हैं। औदारिक आदि शरीररहित; द्रव्य–भाव –नोकर्मरहित; निर्दोष और पूज्य, शुद्ध ज्ञानमय सिद्ध परमेष्ठी **निकल**; अर्थात्, शरीररहित परमात्मा हैं; वे अक्षय अनन्त काल तक, अनन्त सुख का अनुभव करते हैं।

ये दोनों (सकल और निकल), सर्वज्ञ होने से लोक और अलोकसहित सर्व पदार्थों का त्रिकालवर्ती सम्पूर्ण स्वरूप एक समय में युगपत्; अर्थात्, एक साथ

जानने-देखनेवाले, सबके ज्ञाता-द्रष्टा हैं। इससे निश्चित होता है कि जिस प्रकार सर्वज्ञ का ज्ञान व्यवस्थित है; उसी प्रकार उनके ज्ञान के सर्व ज्ञेय; अर्थात्, छहों द्रव्यों की त्रैकालिक क्रमनियमित; अर्थात्, क्रमबद्धपर्यायें भी निश्चित-व्यवस्थित हैं; कोई भी पर्याय उल्टी-सीधी अथवा अव्यवस्थित नहीं होती — ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव मानता है - श्रद्धा करता है। जिसकी ऐसी मान्यता / निर्णय / श्रद्धा नहीं है, उसे स्व एवं पर का सम्यक् निर्णय न होने के कारण, शुभाशुभ विकार और परद्रव्य के साथ कर्ताबुद्धि-एकताबुद्धि होती ही है; इसलिए वह जीव, **बहिरात्मा** है।

आत्मा का जीवन

भगवान आत्मा, अतीन्द्रिय महान पदार्थ है, वह चैतन्यप्राण से शाश्वत जीवित रहनेवाला है। जिसने अपना ऐसा अस्तित्व स्वीकार किया है, उसे जड़ इन्द्रिय आदि प्राणों के साथ एकताबुद्धि नहीं रहती, क्योंकि वे जड़प्राण कहीं आत्मा के जीवन के कारण नहीं हैं। शरीरादि जड़प्राण तो आत्मा से भिन्न हैं और पृथक् हो जाते हैं। यदि आत्मा उनसे जीवित रहता हो तो वे आत्मा से भिन्न क्यों होवें ? उनके अस्तित्व से कहीं आत्मा का अस्तित्व नहीं है; आत्मा का अस्तित्व, अपने चैतन्य भावप्राण से ही है। ऐसे चैतन्य जीव को जिसने देखा, उस सम्यग्दृष्टि को मरण का भय क्यों हो ? मरण ही मेरा नहीं, फिर मरण का भय कैसा ?

इस प्रकार धर्मीजीव मरण के भय से रहित निःशङ्क तथा निर्भय परिणमन करता है। जगत, मरण से भयभीत है परन्तु ज्ञानी को तो आनन्द की लहर है क्योंकि वह प्रथम से ही अपने को शरीर से भिन्न ही अनुभव करता है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

छन्द - ६

अब, निकल परमात्मा का स्वरूप बताकर, जीवतत्त्व के वर्णन को पूर्ण करते हुए, हमारा कर्तव्य क्या है? – यह इस छन्द में बताया जा रहा है –

ज्ञानशरीरी त्रिविधि कर्ममल, वर्जित सिद्ध महंता।
ते हैं निकल अमल परमातम, भोगैं सर्म अनंता॥
बहिरातमता हेय जानि तजि, अंतर-आतम हूजै।
परमातम कूं ध्याय निरंतर, जौ निज आनंद पूजै॥

अन्वयार्थ - (**ज्ञानशरीरी**) ज्ञानमात्र जिनका शरीर है, ऐसे (**त्रिविधि**) ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म, रागादि भावकर्म तथा औदारिकशरीरादि नोकर्म — इन तीन प्रकार के (**कर्ममल**) कर्मरूपी मैल से (**वर्जित**) रहित, (**महंता**) महान (**सिद्ध**) सिद्ध परमेष्ठी, (**निकल**) निकल, अर्थात् शरीररहित, (**अमल**) मल, अर्थात् विकाररहित (**परमातम**) परमात्मा (**हैं**) हैं; (**ते**) वे (**अनंता**) अपरिमित एवं अनन्त काल पर्यन्त (**सर्म**) सुख (**भोगैं**) भोगते हैं।

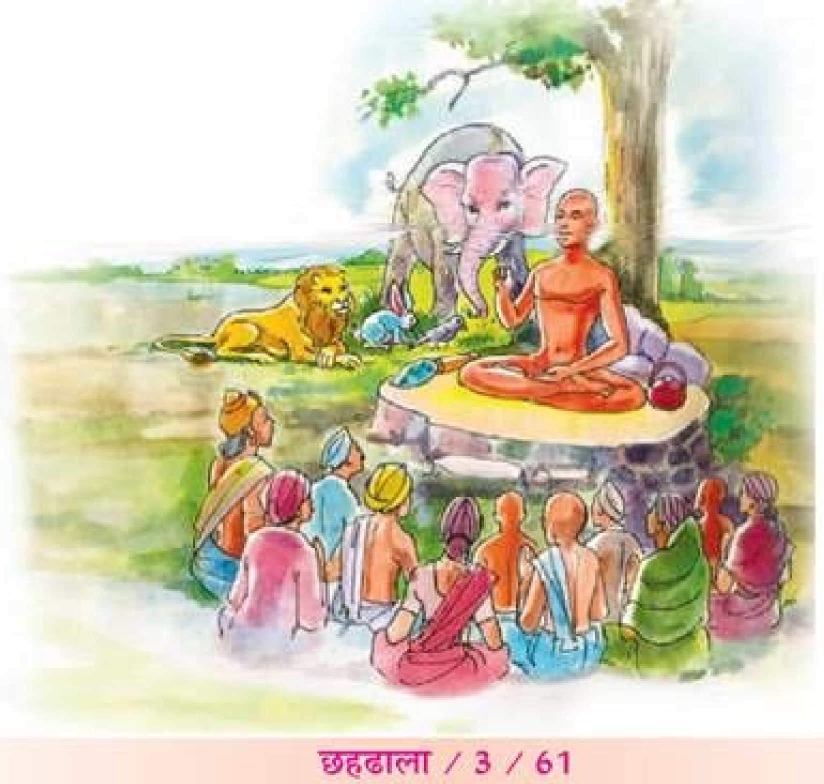

इन तीनों में **(बहिरातमता)** बहिरात्मपने को **(हेय)** छोड़ने योग्य **(जानि)** जानकर, **(तजि)** उसे छोड़कर **(अंतर-आतम)** अन्तरात्मा **(हूजै)** होना चाहिए और **(निरंतर)** सदा **(परमातम कूं)** निज परमात्मपद का **(ध्याय)** ध्यान करना चाहिए; **(जौ)** जिसके द्वारा **(निज आनंद)** अपने आनन्द को, अर्थात् आत्मानन्द को **(पूजै)** प्राप्त किया जाता है।

भावार्थ - ज्ञान ही जिनका शरीर है और जो समस्त राग-द्वेष-मोहादि भावकर्म, ज्ञानावरणादि आठ द्रव्यकर्म और शरीरादि नोकर्मरूप तीनों कर्ममल से रहित हैं, वे सिद्ध परमेष्ठी, **'निकल परमात्मा'** कहलाते हैं। वे सादि-अनन्त काल तक अनन्त सुख का भोग करते हैं।

अवस्थादृष्टि से जीव के इन तीन भेदों - बहिरात्मा, अन्तरात्मा और परमात्मा में से बहिरात्मपना तो मिथ्यात्वसहित होने के कारण हेय; अर्थात्, छोड़ने योग्य है; इसलिए आत्महितैषियों को चाहिए कि बहिरात्मपना छोड़कर, अन्तरात्मा; अर्थात्, सम्यग्दृष्टि होकर, परमात्मपना प्राप्त करें। यही सम्पूर्ण और अनन्त आनन्द; अर्थात्, मोक्ष की प्राप्ति का उपाय है।

उसे देखकर तू आनन्दित होगा

अहा! आनन्द से विलसित हो रहे इस चैतन्यतत्त्व को देखते ही परद्रव्यों के प्रति तेरा मोह छूट जाएगा; परद्रव्य मेरा है - ऐसी तेरी मोहबुद्धि छूट जाएगी और तुझे चैतन्यतत्त्व, परद्रव्यों से पृथक् विलसित होता हुआ, शोभित होता हुआ दिखाई देगा। भगवान ने जैसा उपयोगस्वरूप आत्मा देखा है, वैसा ही आत्मा तेरे अन्तर में विलस रहा है, वह तुझे देह से भिन्न अनुभव में आयेगा और उसे देखकर तू आनन्दित होगा।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

छन्द - ७

अब, कविवर दौलतरामजी, अजीवतत्त्व और उसके भेदों का परिज्ञान कराते हैं –

चेतनिता बिनु सो अजीव है, पंच भेद जाके हैं।
पुद्गल पंच वरण, रस पन, गंध-दु, फरस वसु ताके हैं॥
जिय पुद्गल कूं चलत सहाई, धर्मद्रव्य अनुरूपी।
तिष्ठत होत सहाई अधरम, जिन बिन-मूर्ति निरूपी॥

अन्वयार्थ - जो (**चेतनिता बिनु**) चेतनतारहित है, (**सो**) वो (**अजीव है**) अजीव है; (**जाके**) जिसके (**पंच भेद**) पाँच भेद (**हैं**) हैं; (**पुद्गल**) जिनमें पुद्गल, (**ताके पञ्च वरण-रस पन**) के पाँच वर्ण और पाँच रस, (**गन्ध-दु**) दो गन्ध और (**वसु**) आठ (**फरस**) स्पर्श (**हैं**) होते हैं। जो (**जिय**) जीव और

(पुद्गल कूं) पुद्गल को **(चलत सहाई)** गमन में निमित्त है और **(अनुरूपी)** अमूर्तिक है, वह **(धर्मद्रव्य)** धर्मद्रव्य है, तथा **(तिष्ठत)** गतिपूर्वक स्थितिपरिणाम को प्राप्त जीव और पुद्गल को **(सहाई)** निमित्त **(होत)** होता है, वह **(अधरम)** अधर्मद्रव्य है । **(जिन)** जिनेन्द्र भगवान ने उसे; अर्थात्, अधर्मद्रव्य को भी **(बिन-मूर्ति)** अमूर्तिक **(निरूपी)** कहा है ।

भावार्थ – जिसमें चेतना; अर्थात्, ज्ञान–दर्शन अथवा जानने–देखने की शक्ति नहीं होती, उसे **अजीव** कहते हैं। उस अजीव के पाँच भेद हैं — पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, और काल।

जिसमें स्पर्श, रस, गन्ध, और वर्ण होते हैं, उसे **पुद्गलद्रव्य** कहते हैं। इसके स्पर्शगुण की हल्का, भारी, रूखा, चिकना, कड़ा, कोमल, ठण्डा, गर्म – ये आठ पर्यायें होती हैं। वर्णगुण की काला, पीला, हरा, लाल, और सफेद – ये पाँच पर्यायें होती हैं। रसगुण की खट्टा, मीठा,कड़वा, चरपरा, और कषायला – ये पाँच पर्यायें होती हैं, और गन्धगुण की सुगन्ध और दुर्गन्ध – दो पर्यायें होती हैं।

जो, स्वयं गति करते हुए जीव और पुद्गल को गमन में निमित्तकारण होता है, वह **धर्मद्रव्य** है।

जो, स्वयं गतिपूर्वक स्थिर होते हुए जीव और पुद्गल को स्थिर रहने में निमित्तकारण होता है, वह **अधर्मद्रव्य** है।

धर्म और अधर्म से यहाँ पुण्य और पाप नहीं, किन्तु छह द्रव्यों में आनेवाले धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय नामक दो अजीवद्रव्य समझना चाहिए।

छन्द - ८

यहाँ अजीवतत्त्व के वर्णन का समापन एवं आस्रवतत्त्व के स्वरूप का प्रतिपादन करते हैं –

सकल द्रव्य कौ वास जास में, सो आकास पिछानौं।
निअत वर्तना निसदिन सो, व्यवहारकाल परिवानौ॥
यों अजीव, अब आस्रव सुनियैं, मन-वच-काय त्रियोगा।
मिथ्या अविरत अरु कषाय, परमाद सहित उपयोगा॥

अन्वयार्थ - (**जास में**) जिसमें (**सकल**) समस्त (**द्रव्य कौ**) द्रव्यों का (**वास**) निवास है, (**सो**) वह (**आकास**) आकाशद्रव्य (**पिछानौं**) जानो। (**वर्तना**) स्वयं प्रवर्तित हो और दूसरों को प्रवर्तित होने में निमित्त हो, वह (**निअत**) निश्चयकाल है तथा (**निसि-दिन**) रात्रि, दिवस आदि, (**सो व्यवहारकाल**) वह व्यवहारकाल (**परिवानौ**) जानो।

(यों) इस प्रकार **(अजीव)** अजीवतत्त्व का वर्णन पूर्ण हुआ। **(अब)** अब, **(आस्रव)** आस्रवतत्त्व का स्वरूप **(सुनियैं)** सुनो। **(मन-वच-काय)** मन, वचन और काय के आलम्बन से आत्मा के प्रदेशों के चञ्चल होनेरूप **(त्रियोगा)** तीन प्रकार के योग, **(मिथ्या)** मिथ्यात्व, **(अविरत)** अविरत, **(कषाय)** कषाय **(अरु)** और **(परमाद सहित उपयोगा)** प्रमादसहित आत्मा की प्रवृत्ति, वह आस्रवतत्त्व कहलाता है।

भावार्थ - जिसमें छह द्रव्यों का निवास है, उस स्थान को **आकाश** कहते हैं; अर्थात्, जो छहों द्रव्यों को स्थान देता है, उसे आकाशद्रव्य कहते हैं। जिस प्रकार किसी बरतन में पानी भरकर उसमें भस्म (राख) डाली जाए तो वह उसमें समा जाती है, फिर उसमें शर्करा डाली जाए, वह भी समा जाती है, फिर उसमें सुईयाँ डाली जाएँ तो वे भी समा जाती हैं; उसी प्रकार आकाश में भी मुख्य (विशेष) अवगाहनशक्ति है; इसलिए उसमें सर्व द्रव्य एक साथ रह सकते हैं; एक द्रव्य दूसरे द्रव्य को रहने में बाधक नहीं होता।

अपनी-अपनी पर्यायरूप से स्वयं परिणमित होते हुए जीवादिक द्रव्यों के परिणमन में जो निमित्त हो, उसे **कालद्रव्य** कहते हैं, जिस प्रकार कुम्हार के चाक को घूमने में धुरी, अर्थात् कीली।

कालद्रव्य को **निश्चयकाल** कहते हैं। लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं, उतने ही कालद्रव्य (कालाणु) हैं। दिन, घड़ी, घण्टा, मास इत्यादि को **व्यवहारकाल** कहते हैं।

जिनेन्द्र भगवान ने इन धर्म, अधर्म, आकाश और काल द्रव्यों को अमूर्तिक और इन्द्रिय-अगोचर कहा है।

इस प्रकार **अजीवतत्त्व** का वर्णन हुआ।

अब, **आस्रवतत्त्व** का वर्णन करते हैं।

मन-वचन-काय के निमित्त से आत्मप्रदेशों का परिस्पंदनरूप तीन प्रकार का

योग तथा मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और कषायसहित जीव का उपयोग, आस्रव कहलाता है।

आस्रव

आस्रवतत्त्व का दृष्टान्त यह है कि जिस प्रकार किसी नौका में छिद्र हो जाने से उसमें पानी आने लगता है; उसी प्रकार आत्मा में मिथ्यात्वादि आस्रव के निमित्त से जड़कर्म आने लगते हैं।

......आश्चर्य है!

भाई! सम्यग्दृष्टि के अन्त:स्तल की थाह लेना बहुत कठिन है। धर्मी जीव को चक्रवर्ती का राज्य हो, युद्ध में खड़े हों, परन्तु आत्मा के आनन्द से राग भिन्न हो गया है, रागादि परिग्रह में भेदबुद्धि हो गयी है, भले ही उसके विषय सामग्री हो, उसका भोग भी करते हों। सम्यग्दृष्टि को पुण्य विशेष होता है, पुण्य के ढेर होते हैं, स्त्री-पुत्रादि में, शरीर-वैभव में पुण्य के ढेर दिखायी देते हैं किन्तु सम्यग्दृष्टि को उनमें एकत्वबुद्धि छूट गयी है; चैतन्य का अतीन्द्रिय आनन्द उसे दृष्टिगोचर होता है। आनन्द का सागर उछल रहा है, आनन्द का ज्वार आता है - ऐसे सम्यग्दृष्टि को भोग-सामग्री में किञ्चित् आसक्ति दिखती है - होती है, तथापि अभिप्राय में उसका स्वीकार नहीं है, सुखबुद्धि नहीं है। भोग भुजङ्ग समान लगते हैं, काले नाग दिखते हैं।

- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

छन्द - ९

प्रस्तुत छन्द में कविवर ने आस्रव को दुःखरूप बताकर, बन्ध, संवर, और निर्जरातत्त्व का प्रयोजनसहित भाववाही वर्णन किया है –

ये ही आतम कौ दुख कारण, तातें इनकूं तजिये।
जीव प्रदेश बँधै विधि सौं सो, बंधन कबहूँ न सजिये॥
सम-दम तें जो कर्म न आवैं, सो संवर आदरियै।
तपबल तें विधि-झरन निर्जरा, ताहि सदां आचरियै॥

अन्वयार्थ - (**ये ही**) यह मिथ्यात्वादि आस्रव ही (**आतम कौ**) आत्मा को (**दुख-कारण**) दुःख के कारण हैं; (**तातें**) इसलिए (**इनकूं**) इन मिथ्यात्वादि को (**तजिये**) छोड़ देना चाहिए। (**जीव प्रदेश**) आत्मा के प्रदेशों का (**विधि सौं**) कर्मों से (**बँधै**) बँधना, वह (**बंधन**) बन्ध कहलाता है; (**सो**) वह बन्ध (**कबहुँ**) कभी भी (**न सजिये**) नहीं करना चाहिए।

(सम) कषायों का अभाव और **(दम तें)** इन्द्रियों तथा मन को जीतने से **(जो कर्म)** जो कर्म **(न आवैं)** नहीं आते, **(सो)** वह **(संवर)** संवरतत्त्व है। **(ताहि)** उस संवर को **(आदरियै)** ग्रहण करना चाहिए। **(तपबल तें)** तप की शक्ति से **(विधि)** कर्मों का **(झरन)** एकदेश खिर जाना, वह **(निरजरा)** निर्जरा है ।**(ताहि)** उस निर्जरा को **(सदां)** सदैव **(आचरियै)** प्राप्त करना चाहिए।

भावार्थ – ये मिथ्यात्वादि ही आत्मा को दु:ख के कारण हैं; बाह्य पदार्थ दु:ख के कारण नहीं हैं; इसलिए अपने दोषरूप मिथ्याभावों का अभाव करना चाहिए।

बन्ध– स्पर्शों के साथ पुद्गलों का बन्ध, रागादि के साथ जीव का बन्ध, और अन्योन्य–अवगाहरूप पुद्गलजीवात्मक बन्ध कहा है – ***(प्रवचनसार, गाथा १७७)*** रागपरिणाममात्र, ऐसा जो भावबन्ध है, वह द्रव्यबन्ध का हेतु होने से, वही निश्चय–बन्ध है, जो छोड़ने योग्य है ।

जीव के मिथ्यात्व–मोह–राग–द्वेषरूप परिणाम, वह भावआस्रव हैं और उन मलिनभावों में स्निग्धता, वह भावबन्ध है।

बन्धतत्त्व का दृष्टान्त यह है कि जिस प्रकार छिद्र द्वारा पानी नौका में भर जाता है; उसी प्रकार कर्मपरमाणु, आत्मा के प्रदेशों में पहुँचते हैं; अर्थात्, एक क्षेत्र में रहते हैं।

संवर– पुण्य–पापरूप अशुद्धभाव (आस्रव) को आत्मा के शुद्धभाव द्वारा रोकना, भावसंवर है और तद्नुसार नवीन कर्मों का आना स्वयं–स्वत: रुक जाना, द्रव्यसंवर है।

मिथ्यात्व और क्रोधादिरूप

भाव — इन सबको सामान्यरूप से कषाय कहा जाता है। ऐसी कषाय के अभाव को शम कहते हैं और इन्द्रिय तथा मन के जीतने को दम कहते हैं। ये भी संवर हैं।

जिस प्रकार छिद्र बन्द करने से नौका में पानी का आना रुक जाता है; उसी प्रकार शुद्धभावरूप गुप्ति आदि के द्वारा आत्मा में कर्मों का आना रुक जाता है।

निर्जरा — अखण्डानन्द निज शुद्धात्मा के लक्ष्य से शुद्धि की अंशतः वृद्धि और अशुद्धि की अंशतः हानि करना, भावनिर्जरा है और उस समय खिरनेयोग्य कर्मों का अंशतः छूट जाना, द्रव्यनिर्जरा है।

जिस प्रकार नौका में आये हुए पानी में से थोड़ा-थोड़ा पानी किसी बरतन में भरकर बाहर फेंक दिया जाता है; उसी प्रकार निर्जरा द्वारा थोड़े कर्म आत्मा से अलग हो जाते हैं।

शुद्धात्माश्रित सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप शुद्धभाव ही संवर है। प्रथम निश्चयसम्यग्दर्शन होने पर स्वद्रव्य के आलम्बनानुसार संवर-निर्जरा प्रारम्भ होती है। क्रमशः जितने अंश में राग का अभाव हो, उतने अंश में संवर-निर्जरारूप धर्म होता है।

स्वोन्मुखता के बल से शुभाशुभ इच्छा का निरोध, तप है। उस तप से निर्जरा

छन्द - १०

यहाँ मोक्षतत्त्व का वर्णन करके, व्यवहारसम्यग्दर्शन के कारण का निरुपण किया जाता है –

सकल कर्म तें रहित अवस्था, सो सिव थिर सुखकारी।
यह विधि जो सरधा तत्त्वनि की, सो समकित व्यवहारी॥
देव जिनेंद्र, गुरु परिग्रहबिन, धर्म दयाजुत सारौ।
यहू जानि समकित कौ कारण, अष्ट अंगजुत धारौ॥

अन्वयार्थ - (**सकल कर्म तें**) समस्त कर्मों से (**रहित**) रहित (**थिर**) स्थिर-अटल (**सुखकारी**) अनन्त सुखदायक (**अवस्था**) दशा-पर्याय, (**सो सिव**) वह मोक्ष है। (**यह विधि**) इस प्रकार (**जो**) जो (**तत्त्वनि की**) सात तत्त्वों की भेदसहित (**सरधा**) श्रद्धा है, (**सो**) वह (**व्यवहारी**) व्यवहार (**समकित**) सम्यग्दर्शन है।

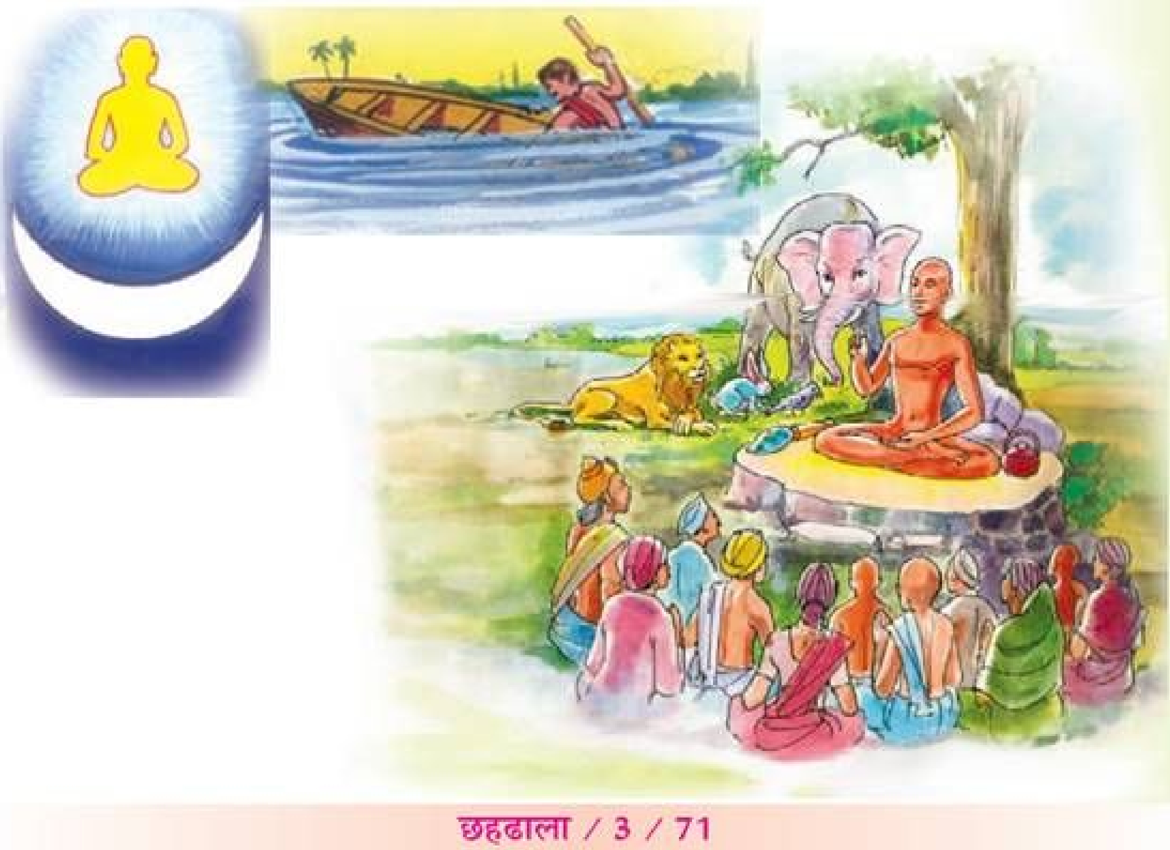

वीतरागीदेव

वीतरागी गुरु

अहिंसामयी धर्म

(जिनेंद्र) वीतराग, सर्वज्ञ, और हितोपदेशी **(देव)** सच्चे देव; **(परिग्रहबिन)** चौबीस परिग्रह से रहित **(गुरु)** वीतरागी गुरु, तथा **(सारौ)** सारभूत **(दयाजुत)** अहिंसामय **(धर्म)** जैनधर्म **(यहू)** — इन सबको **(समकित कौ)** सम्यग्दर्शन का **(कारण)** निमित्तकारण **(जानि)** जानना चाहिए एवं उसको उसके **(अष्ट)** आठों **(अंगजुत)** अङ्गसहित **(धारौ)** धारण करना चाहिए।

भावार्थ - आठ कर्मों के सर्वथा नाशपूर्वक आत्मा की सम्पूर्ण शुद्धदशा (पर्याय) प्रगट होती है, उसे मोक्ष कहते हैं। वह दशा, अविनाशी तथा अनन्त सुखमय है।

जिस प्रकार नौका में आया हुआ सारा पानी निकाल देने से नौका पूर्णत: पानी रहित हो जाती है; उसी प्रकार आत्मा में से समस्त कर्म पृथक् हो जाने से, आत्मा की परिपूर्ण शुद्धदशा (मोक्षदशा) प्रगट हो जाती है; अर्थात्, आत्मा मुक्त हो जाता है।

जीव-अजीव को उनके स्वरूपसहित जानकर, स्व तथा पर को यथावत्

मानना; आस्रव को जानकर उसे हेयरूप, बन्ध को जानकर उसे अहितरूप, संवर को पहिचानकर उसे उपादेयरूप, तथा निर्जरा को पहिचानकर उसे हित का कारण मानना चाहिए। मोक्ष का स्वरूप जानकर, उसे अपना परम हितकारक मानना चाहिए।

(– मोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ९, पृष्ठ ४६९)

इस प्रकार सामान्य और विशेषरूप से सात तत्त्वों की अचल श्रद्धा करना, उसे व्यवहारसम्यग्दर्शन कहते हैं।

जिनेन्द्रदेव, वीतरागी दिगम्बर जैन निर्ग्रन्थ गुरु, तथा जिनेन्द्रप्रणीत अहिंसामय धर्म, व्यवहारसम्यग्दर्शन के कारण हैं; अर्थात्, इन तीनों का यथार्थ श्रद्धान भी व्यवहारसम्यग्दर्शन कहलाता है। उसे आगे कहे जानेवाले आठ अङ्गसहित धारण करना चाहिए।

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि निश्चयसम्यक्त्व के बिना, मात्र व्यवहार को व्यवहारसम्यक्त्व नहीं कहा जाता।

धर्मनगरी में प्रविष्ट होने का दरवाजा

आत्मा के अनुभव के लिए पहले ठोस भूमिका चाहिए। वह ठोस भूमिका कौन सी है ? मैं ज्ञानस्वरूप हूँ – ऐसा निर्णय ही ठोस भूमिका है। जैसे, बैठे हुए पक्षी को गगन में उड़ने के लिए नीचे ठोस भूमिका चाहिए; उसी तरह चैतन्य के चारित्र में गगन–विहार करने के लिए पहले निर्णयरूप ठोस भूमिका चाहिए। आत्मार्थी होकर अनन्त काल में नहीं किया हुआ – ऐसा अपूर्व प्रकार से, अपूर्व पुरुषार्थ से, आत्मा का अपूर्व निर्णय करना ही प्रथम भूमिका है – यही धर्मनगरी में प्रविष्ट होने का दरवाजा है। इस निर्णय में राग का उत्साह नहीं, अपितु चैतन्य का उत्साह है। वह जीव, राग के भरोसे रुकता नहीं है किन्तु चैतन्यस्वभाव के भरोसे अन्तर में आगे बढ़ता जाता है और राग–द्वेष का अभाव करता जाता है।

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

छन्द - ११

इस छन्द में सम्यग्दर्शन में त्यागने योग्य पच्चीस दोष बताये जा रहे हैं –

वसु मद टारि, निवारि त्रिसठता, षट् अनायतन त्यागौ।
संकादिक वसु दोष बिना, संवेगादिक चित्त पागौ॥
अष्ट अंग अरु दोष पचीसौ, तिन संक्षेप कहियै।
बिन जानें तें दोष गुनन कौं, कैसे तजियै गहियै॥

अन्वयार्थ - (**वसु**) आठ (**मद**) मद का (**टारि**) त्याग करके, (**त्रिसठता**) तीन प्रकार की मूढता को (**निवारि**) हटाकर, (**षट्**) छह (**अनायतन**) अनायतनों का (**त्यागौ**) त्याग करना चाहिए। (**संकादिक**) शङ्कादि (**वसु**) आठ (**दोष बिना**) दोषों से रहित होकर (**संवेगादिक**) संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य, और प्रशम में (**चित्त**) मन को (**पागौ**) लगाना चाहिए।

सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग

सम्यग्दर्शन के पच्चीस दोष

तीन मूढ़ता

देवमूढ़ता

धर्ममूढ़ता

गुरुमूढ़ता

षट् अनायतन

अब, सम्यक्त्व के **(अष्ट)** आठ **(अंग)** अङ्ग **(अरु)** और **(दोष पचीसौ तिन)** पच्चीस दोषों को **(संक्षेप)** संक्षेप में **(कहीयै)** कहा जाता है क्योंकि **(बिन जाने ते)** उन्हें जाने बिना **(दोष)** दोषों को **(कैसे)** किस प्रकार **(तजियै)** छोड़ें और **(गुनन कौं)** गुणों को किस प्रकार **(गहियै)** ग्रहण करें ?

भावार्थ – आठ मद, तीन मूढ़ता, छह अनायतन; अर्थात्, अधर्म-स्थान, और शङ्कादि आठ दोष — इस प्रकार सम्यक्त्व के पच्चीस दोष हैं। सम्यग्दृष्टि को संवेग, अनुकम्पा, आस्तिक्य, और प्रशम होते हैं। सम्यक्त्व के अभिलाषी जीव को सम्यक्त्व के (सम्यक्त्व में लगनेवाले) इन पच्चीस दोषों का त्याग करके, संवेगादि भावनाओं में मन लगाना चाहिए।

अब, सम्यक्त्व के आठ गुणों (अङ्गों) और पच्चीस दोषों का संक्षेप में वर्णन किया जाता है क्योंकि जाने और समझे बिना दोषों को छोड़ा कैसे जा सकता है तथा गुणों को ग्रहण कैसे किया जा सकता है ?

पूर्णता के लक्ष्य से पूर्णता

जो अनन्त संसार का अन्त लाने के लिए पूर्ण स्वभाव के लक्ष्य से प्रारम्भ करने को निकले हैं – ऐसे जीवों का किया हुआ प्रारम्भ, वापस नहीं होता, ऐसे लोगों की ही यहाँ बात है। यह तो अप्रतिहतमार्ग है। **पूर्णता के लक्ष्य से किया गया प्रारम्भ, वापस नहीं होता। पूर्णता के लक्ष्य से पूर्णता होती ही है।**

– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

छन्द - १२

कविवर, सम्यग्दर्शन के निःशङ्कित आदि आठ गुणों का वर्णन करते हुए कहते हैं –

जिन वच में संकै न धार, वृष भव-सुख-वाँछा भानौ।
मुनि-तन मलिन देखि न घिनावै, तत्त्व-कुतत्त्व पिछानै॥
निज गुण अरु पर औगुण ढाकै, वा निजधर्म बढ़ावै।
कामादिक करि वृष तें चिगते, निज-पर कौं सु दिढ़ावै॥

अन्वयार्थ - १. (**जिन वच में**) सर्वज्ञदेव के कहे हुए तत्त्वों में (**संकै**) संशय-सन्देह (**न**) नहीं करना, निःशङ्कितअङ्ग है; २. (**वृष**) धर्म को (**धार**) धारण करके, (**भव-सुख-वाँछा**) सांसारिक सुखों की इच्छा (**भानौ**) नहीं करना, निःकांक्षितअङ्ग है; ३. (**मुनि-तन**) मुनियों के शरीरादि (**मलिन**) मैले (**देख**) देखकर (**न घिनावै**) घृणा नहीं करना, निर्विचिकित्साअङ्ग है; ४. (**तत्त्व -कुतत्त्व**) सच्चे और झूठे तत्त्वों की (**पिछानौ**) पहिचान रखना, अमूढ़दृष्टिअङ्ग है; ५. (**निज गुण**) अपने गुणों को (**अरु**) और (**पर औगुण**) दूसरे के अवगुणों

को (**ढाकै**) छिपाना (**वा**) तथा (**निजधर्म**) अपने आत्मधर्म को (**बढ़ावै**) निर्मल बनाना, उपगूहनअङ्ग है; ६. (**कामादिक करि**) काम-विकारादि के कारण (**वृष तें**) धर्म से (**चिगते**) च्युत होते हुए (**निज-पर कौं**) अपने को तथा पर को (**सु दिढ़ावै**) उसमें पुनः दृढ़ करना, स्थितिकरणअङ्ग है।

भावार्थ - व्यवहारसम्यग्दर्शन के अष्ट अङ्गों का संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार है —

१. तत्त्व यही है, ऐसा ही है; अन्य नहीं है तथा अन्य प्रकार से नहीं है — इस प्रकार **यथार्थ तत्त्वों में अचल श्रद्धा होना, निशङ्कितअङ्ग है।**

निशङ्कित एवं निःकांक्षितअङ्ग

२. धर्म सेवन करके, उसके फल में **सांसारिक सुखों की इच्छा नहीं करना, निःकांक्षितअङ्ग है।**

अव्रती सम्यग्दृष्टि जीव, भोगों को कभी भी आदरणीय नहीं मानते, किन्तु जिस प्रकार इच्छा न होने पर भी कोई बन्दी कारागृह में दुःख सहन करता है; उसी प्रकार वे अपने पुरुषार्थ की निर्बलता से गृहस्थदशा में रहते हैं किन्तु रुचिपूर्वक भोगों की इच्छा नहीं करते; इसलिए उन्हें निःशङ्कित और निःकांक्षितअङ्ग होने में कोई बाधा नहीं आती।

३. मुनिराज अथवा अन्य किसी धर्मात्मा के शरीर को मैला देखकर घृणा नहीं करना, **निर्विचिकित्साअङ्ग** है।

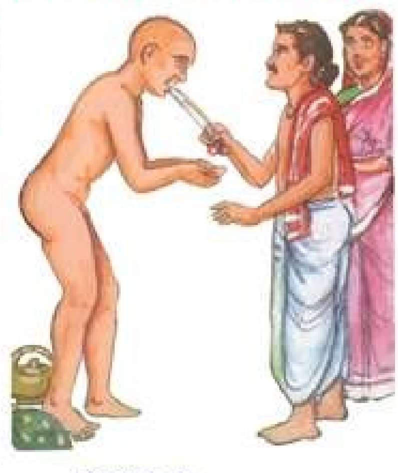

निर्विचिकित्साअङ्ग

अमूढ़दृष्टिअङ्ग

४. सच्चे और झूठे तत्त्वों की परीक्षा करके, मूढ़ताओं तथा अनायतनों में नहीं फँसना, **अमूढ़दृष्टिअङ्ग** है।

५. अपनी प्रशंसा करानेवाले गुणों को तथा दूसरे की निन्दा करानेवाले दोषों को ढँकना और आत्मधर्म को बढ़ाना / निर्मल रखना, **उपगूहनअङ्ग** है।

उपगूहनअङ्ग

[एक चोर, धर्मात्मा सेठ के यहाँ कपट से ब्रह्मचारी का वेष बनाकर, सेठ की अनुपस्थिति में उनके जिनमन्दिर से जिनप्रतिमा चुरा लेता है। द्वारपालों द्वारा पकड़े जाने पर सेठ, जिनधर्म की निन्दा न हो, इस भाव से यह प्रतिमा तो मैंने मंगायी थी – कहकर उस वेषधारी ब्रह्मचारी के दोष ढँककर, पश्चात् उसे जिनधर्म का उपदेश देकर धर्ममार्ग में लगाते हैं।]

जिनागम में उपगूहन का दूसरा नाम 'उपवृंहण' भी आता है, जिससे आत्मधर्म में वृद्धि करने को भी उपगूहन कहा जाता है। श्रीअमृतचन्द्रसूरि ने अपने पुरुषार्थसिद्ध्युपाय में भी यही कहा है —

धर्माऽभिवर्द्धनीयः सदात्मनो मार्दवादिभावनया।
परदोषनिगूहनमपि विधेयमुपबृंहणगुणार्थम्॥ २७॥

अर्थात्, उपबृंहण नामक गुण के लिए मार्दव, क्षमा, सन्तोषादि भावनाओं से निरन्तर अपने आत्मा के धर्म की; अर्थात्, शुद्धस्वभाव की वृद्धि करनी चाहिए और दूसरे के दोषों को गुप्त भी रखना चाहिए (यह भी कर्तव्य है)।

६. काम, क्रोध, लोभ आदि किसी भी कारण से, सम्यक्त्व और चारित्र से भ्रष्ट होते हुए अपने को तथा पर को पुनः उसमें स्थित करना, **स्थितिकरणअङ्ग** है।

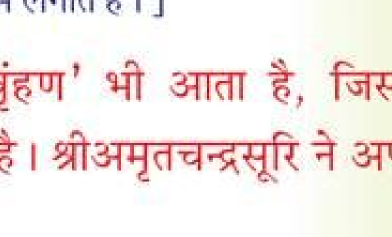

स्थितिकरणअङ्ग

छन्द - १३

यहाँ पूर्व छन्द में शेष रहे गुण और आठ मदों का वर्णन किया जा रहा है –

धर्मी सौ गौ-वच्छ-प्रीति सम, करि जिनधर्म दिपावै।
इन गुण तें विपरीति दोष वसु, तिनकौं संत खिपावै।।
पिता भूप वा मातुल नृप जौ, होइ न तौ मद ठानें।
मद न रूप कौ मद न ज्ञान कौ, धन बल कौ मद भानें।।

अन्वयार्थ - ७. (**धर्मी सौ**) अपने साधर्मीजनों से (**गौ-वच्छ -प्रीति सम**) बछड़े पर गाय की प्रीति के समान, प्रेम (**करि**) रखना, वात्सल्यअङ्ग है, और ८. (**जिनधर्म**) जैनधर्म की (**दिपावै**) शोभा में वृद्धि करना, प्रभावनाअङ्ग है। (**इन गुण तें**) इन आठ गुणों से (**विपरीति**) विपरीत (**वसु**) आठ (**दोष**) दोष हैं, (**तिनकौं**) उन्हें (**संत**) सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा (**खिपावै**) दूर करता है।

सम्यग्दृष्टि जीव, (**जौ**) यदि (**पिता**) पिता आदि पितृपक्ष के स्वजन (**भूप**) राजादि (**होइ**) हों अथवा यदि (**मातुल**) मामा आदि मातृपक्ष के स्वजन (**नृप**) राजादि (**होइ**) हों (**तौ**) तो (**मद**) अभिमान (**न ठानें**) नहीं करता। (**रूप कौ**) शारीरिक सौन्दर्य का, (**मद**) अभिमान (**न**) नहीं करता; (**ज्ञान कौ**) विद्या का (**मद न**) अभिमान नहीं करता; (**धन**) लक्ष्मी का (**मद भानै**) अभिमान नहीं करता; (**बल कौ**) शक्ति का (**मद भानें**) अभिमान नहीं करता।

वात्सल्यअङ्ग

भावार्थ - ७. अपने साधर्मीजन पर बछड़े से प्यार रखनेवाली गाय की भाँति निरपेक्ष प्रेम रखना, **वात्सल्यअङ्ग** है।

८. अज्ञान–अन्धकार को दूर करके, विद्या–बल–बुद्धि आदि के द्वारा शास्त्र में कही हुई योग्य रीति से अपने सामर्थ्यानुसार जैनधर्म का प्रभाव प्रगट करना, **प्रभावनाअङ्ग** है।

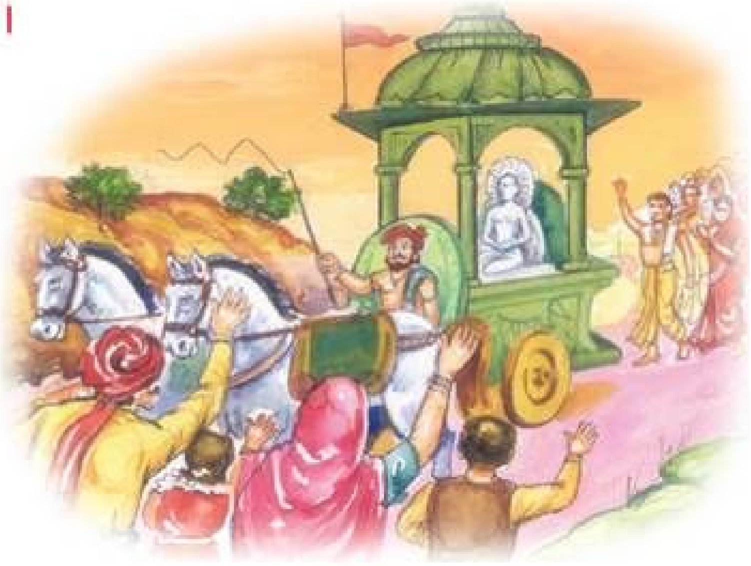

प्रभावनाअङ्ग

इस प्रकार सम्यग्दर्शन के आठ अङ्ग जानना चाहिए।

— इन अङ्गों / गुणों से विपरीत १. शङ्का, २. काँक्षा, ३. विचिकित्सा, ४. मूढ़दृष्टि, ५. अनुपगूहन, ६. अस्थितिकरण, ७. अवात्सल्य, और ८. अप्रभावना — ये सम्यक्त्व के आठ दोष हैं, इन्हें सदा दूर करना चाहिए।

सम्यग्दृष्टि जीव, संयोग, शरीर और पर्यायबुद्धि से रहित होता है, इस कारण उसे इनके आश्रय से मद नहीं होता। पिता के गोत्र को कुल और माता के गोत्र को जाति कहते हैं।

१. पिता आदि पितृपक्ष में राजादि प्रतापी पुरुष होने से 'मैं राजकुमार हूँ आदि' अभिमान करना, **कुलमद** है। २. मामा आदि मातृपक्ष में राजादि प्रतापी पुरुष होने का अभिमान करना, **जातिमद** है। ३. शारीरिक सौन्दर्य का मद करना, **रूपमद** है। ४. विद्या का अभिमान करना, **ज्ञानमद** है। ५. धन–सम्पत्ति का अभिमान करना, **धनमद** है। ६. शारीरिक शक्ति का गर्व करना, **बलमद** है।

छन्द - १४

पूर्व छन्द में शेष रहे दो मद एवं सम्यग्दर्शन में त्याज्य षट् अनायतनों के स्वरूप का वर्णन यहाँ किया जा रहा है –

तप कौ मद न, मद न प्रभुता कौ, करै न सो निज जानें।
मद धारै तौ यही दोष वसु, सम्यक कूं मल ठानें॥
कुगुरु-कुदेव-कुवृष सेवक की नहीं प्रसंस उचरै है।
जिन मुनि जिनश्रुत बिनु कुगुरादिक, तिनहि न नमन करै है॥

अन्वयार्थ – सम्यग्दृष्टि जीव (**तप कौ**) तप का (**मद न**) अभिमान नहीं करता, और (**प्रभुता कौ**) ऐश्वर्य, बड़प्पन का (**मद न करै**) अभिमान नहीं करता; (**सो**) वह (**निज**) अपने आत्मा को (**जानें**) जानता है। यदि जीव उनका (**मद**) अभिमान (**धारै तौ**) रखता है तो (**यही**) ऊपर कहे हुए मद, (**वसु**) आठ (**दोष**) दोषरूप होकर (**सम्यक कूं**) सम्यग्दर्शन को (**मल**) दूषित (**ठानें**) करते हैं।

कुलमद

जातिमद

रूपमद

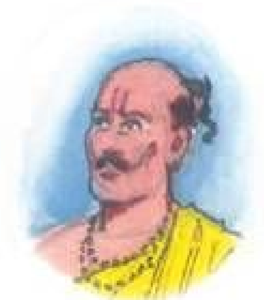
ज्ञानमद

धनमद

बलमद

तपमद

प्रभुतामद

सम्यग्दृष्टि जीव, (**कुगुरु-कुदेव-कुवृष सेवक की**) कुगुरु, कुदेव और कुधर्म-सेवक की (**प्रसंस**) प्रशंसा (**नहीं उचरै है**) नहीं करता। (**जिन**) जिनेन्द्रदेव, (**मुनि**) वीतरागी मुनि, और (**जिनश्रुत**) जिनवाणी (**बिनु**) के अतिरिक्त जो (**कुगुरादिक**) कुगुरु, कुदेव, कुधर्म हैं, (**तिनहिं**) उन्हें (**नमन**) नमस्कार (**न करै है**) नहीं करता।

भावार्थ - ७. अपने व्रत-उपवासादि तप का गर्व करना, **तपमद** है। ८. अपने बड़प्पन और आज्ञा का गर्व करना, **प्रभुतामद** है।

इस प्रकार कुल, जाति, रूप, ज्ञान, धन, बल, तप और प्रभुता — ये आठ मद -दोष कहलाते हैं। जो जीव, इन आठ का गर्व नहीं करता, वही आत्मा का ज्ञान कर सकता है। यदि उनका गर्व करता है तो ये मद, सम्यग्दर्शन के आठ दोष बनकर, उसे दूषित करते हैं।

अब, छह अनायतन दोषों का निरुपण करते हैं —

कुगुरु, कुदेव, कुधर्म और कुगुरु-सेवक, कुदेव-सेवक तथा कुधर्म-सेवक — ये छह अनायतन; अर्थात्, धर्म के अस्थान कहलाते हैं। उनकी भक्ति, विनय और पूजनादि तो दूर रही, सम्यग्दृष्टि जीव उनकी प्रशंसा भी नहीं करता, क्योंकि उनकी प्रशंसा करने से भी सम्यक्त्व में दोष लगता है।

सम्यग्दृष्टि जीव, जिनेन्द्रदेव, वीतरागी मुनि और जिनवाणी के अतिरिक्त, कुदेव-कुगुरु और कुशास्त्रादि को भय, आशा, लोभ और स्नेह आदि के कारण भी नमस्कार नहीं करता, क्योंकि उन्हें नमस्कार करनेमात्र से भी सम्यक्त्व दूषित हो जाता है। कुगुरु-सेवा, कुदेव-सेवा तथा कुधर्म-सेवा — ये तीन भी सम्यक्त्व के मूढ़ता नामक दोष हैं।

छन्द - १५

ग्रन्थकार पण्डित दौलतरामजी अनेक दृष्टान्तों के द्वारा अविरत सम्यग्दृष्टि जीव की महिमा बतलाते हैं –

दोषरहित गुणसहित सुधी जे, सम्यकदर्श सजै हैं।
चारित मोहवस लेश न संजम, पै सुरनाथ जजै हैं॥
गेही, पै गृह में न रचै जौं, जल से भिन्न कमल है।
नगरनारि कौ प्यार जथा, कादा में हेम अमल है॥

अन्वयार्थ - (**जे**) जो (**सुधी**) बुद्धिमान पुरुष, ऊपर कहे हुए (**दोषरहित**) पच्चीस दोषरहित तथा (**गुणसहित**) निःशङ्कादि आठ गुणोंसहित (**सम्यकदर्श**) सम्यग्दर्शन से (**सजै हैं**) भूषित हैं, उन्हें (**चारित मोहवस**) अप्रत्याख्यानावरणीय चारित्रमोहनीयकर्म के उदयवश (**लेश**) किञ्चित् भी (**संजम**) संयम (**न**) नहीं है, (**पै**) तथापि (**सुरनाथ**) देवों के स्वामी इन्द्र द्वारा

देवों द्वारा आदर पाते हैं

जल में कमल की भाँति अलिप्त हैं।

(जजै हैं) पूजे जाते हैं (प्रशंसा / आदर पाते हैं)। यद्यपि वे **(गेही)** गृहस्थ हैं **(पै)** तथापि **(गृह में)** घर में **(न रचै)** नहीं रचते, अर्थात् ममत्व नहीं रखते। **(जौं)** जिस प्रकार **(कमल)** कमल **(जल से)** जल से **(भिन्न है)** भिन्न है तथा **(जथा)** जिस प्रकार **(कादा में)** कीचड़ में **(हेम)** स्वर्ण **(अमल है)** शुद्ध रहता है; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का घर आदि में प्रेम (ममत्व) **(नगरनारि कौ)** वेश्या के **(प्यार जथा)** प्रेम की भाँति होता है।

भावार्थ – जो विवेकी, पच्चीस दोषरहित तथा आठ अङ्ग; अर्थात्, आठ गुणसहित सम्यग्दर्शन धारण करते हैं, उन्हें अप्रत्याख्यानावरणीय कषाय के तीव्र उदय में युक्त होने के कारण, लेशमात्र संयमभाव न होने पर भी, इन्द्रादि उनकी पूजा, अर्थात् आदर करते हैं। जिस प्रकार पानी में रहने पर भी कमल, पानी से अलिप्त रहता है; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि घर में रहते हुए भी गृहस्थदशा में लिप्त नहीं होता; उदासीन, अर्थात् निर्मोही रहता है। जिस प्रकार वेश्या का प्रेम, मात्र पैसे से ही होता है; मनुष्य से नहीं होता; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि का प्रेम सम्यक्त्व से ही होता है, गृहस्थपने में नहीं होता। तथा जिस प्रकार सोना, कीचड़ में पड़े रहने पर भी निर्मल रहता है; उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव, गृहस्थदशा में रहने पर भी उसमें लिप्त नहीं होता, क्योंकि वह उसे त्याज्य, अर्थात् त्यागने योग्य मानता है।

'**पै सुरनाथ जजै है**' का अर्थ पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी ने इस प्रकार किया है — राग से भिन्न चैतन्य का अनुभव करनेवाला अव्रती सम्यग्दृष्टि भी पूज्य है, महिमावन्त है, प्रशंसनीय है। 'अहो! तुमने आत्मा का कार्य किया, तुम आत्मा की अनुभूति द्वारा भगवान के मार्ग में आये' — इस प्रकार इन्द्र को भी, अपने साधर्मी के रूप में, उसके (अव्रती-सम्यग्दृष्टि के) प्रति आदरभाव आता है। इस मनुष्यदेह में पञ्चम काल की प्रतिकूलता के मध्य भी तुमने आत्मा की साधना की.... तुम्हें धन्य है! **सुरनाथ जजे हैं;** अर्थात्, इन्द्र भी सम्यक्त्व का बहुमान करते हैं, अनुमोदना करते हैं, प्रशंसा करते हैं।

- वीतराग-विज्ञान, भाग-३ (छहढाला प्रवचन), पृष्ठ २२६, द्वितीयावृत्ति, सोनगढ़ प्रकाशन

छन्द - १६

सम्यग्दर्शन का अपूर्व माहात्म्य इस छन्द में प्रतिपादित किया गया है –

प्रथम नर्क विन षट् भू जोतिस, वाण भवन सँढ़ नारी।
थावर विकलत्रय पशु में नाही, उपजत सम्यक्धारी॥
तीनि लोक तिहुँ काल माहिं नहीं, दर्शन सौ सुखकारी।
सकल धर्म कौ मूल यही, इस बिन करनी दुखकारी॥

अन्वयार्थ - (**सम्यक्धारी**) सम्यग्दृष्टि जीव, (**प्रथम नर्क विन**) पहले नरक के अतिरिक्त (**षट् भू**) शेष छह नरकों में, (**जोतिस**) ज्योतिषी देवों में, (**वाण**) व्यन्तर देवों में, (**भवन**) भवनवासी देवों में, (**सँढ़**) नपुंसकों में, (**नारी**) स्त्रियों में, (**थावर**) पाँच स्थावरों में, (**विकलत्रय**) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय जीवों में तथा (**पशु में**) कर्मभूमि के पशुओं में (**नाही उपजत**) उत्पन्न

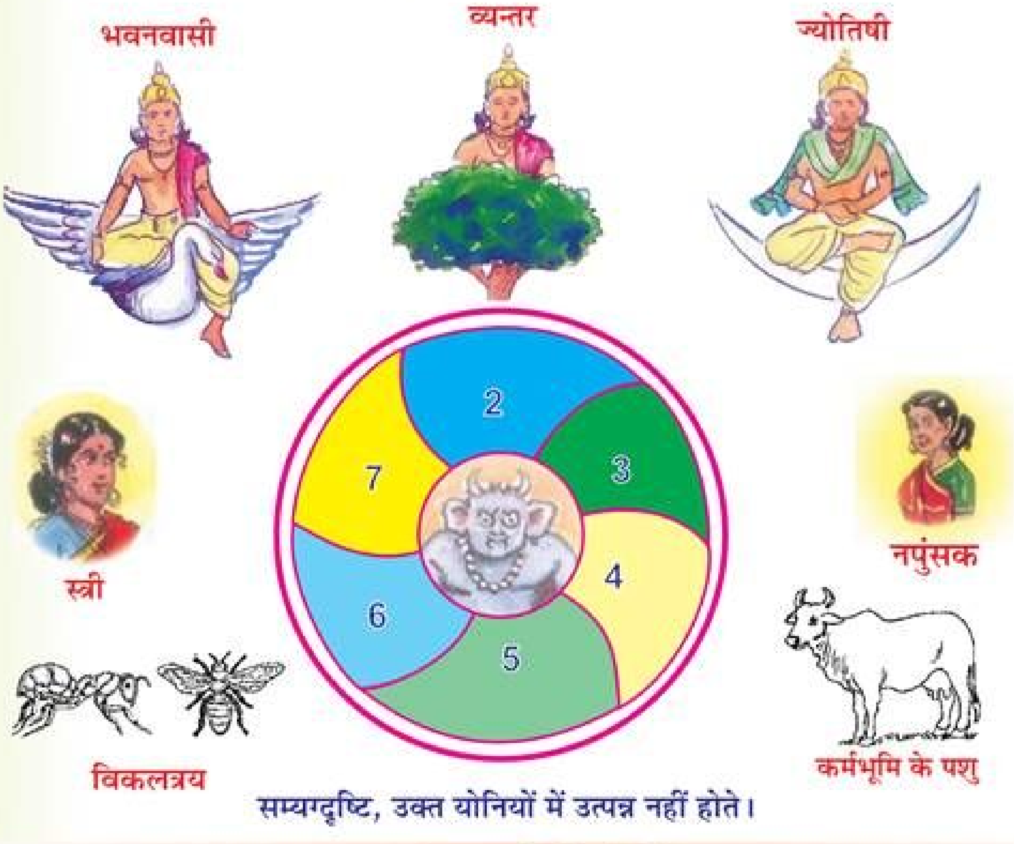

सम्यग्दृष्टि, उक्त योनियों में उत्पन्न नहीं होते।

नहीं होते। (**तीनि लोक**) तीन लोक (**तिहुँ काल**) तीन काल (**माहिं**) में (**दर्शन सौ**) सम्यग्दर्शन के समान (**सुखकारी**) सुखदायक (**नहीं**) अन्य कुछ नहीं है। (**यही**) यह सम्यग्दर्शन ही (**सकल धरम कौ**) समस्त धर्मों का (**मूल**) मूल है; (**इस बिन**) इस सम्यग्दर्शन के बिना (**करनी**) समस्त क्रियाएँ (**दुखकारी**) दुःखदायक हैं।

भावार्थ – सम्यग्दृष्टि जीव, आयु पूर्ण होने पर दूसरे से सातवें नरक के नारकी; ज्योतिषी, व्यन्तर, एवं भवनवासी देव; नपुंसक; सब प्रकार की स्त्री; एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय और कर्मभूमि के पशु नहीं होते; नीच कुलवाले, विकृत अङ्गवाले, अल्पायुवाले तथा दरिद्री नहीं होते। वे विमानवासी देव, भोगभूमि के मनुष्य अथवा भोगभूमि के तिर्यञ्च ही होते हैं। कदाचित् नरक में जाएँ तो पहले नरक से नीचे नहीं जाते।

यदि किसी जीव को सम्यग्दर्शन से पूर्व नरकायु बँध गयी हो तो ऐसी दशा में सम्यग्दृष्टि, प्रथम नरक के नपुंसकों में भी उत्पन्न होता है; उनसे भिन्न अन्य नपुंसकों में उसकी उत्पत्ति का निषेध है। जिस प्रकार श्रेणिक राजा, सातवें नरक की आयु का बन्ध करने के बाद सम्यक्त्व को प्राप्त हुए थे। इससे उन्हें यद्यपि नरक में तो जाना पड़ा, किन्तु आयु सातवें नरक से घटकर, पहले नरक की रही; इसी प्रकार जो जीव, सम्यग्दर्शन प्राप्त करने से पूर्व तिर्यञ्च अथवा मनुष्य आयु का बन्ध करते हैं, वे भोगभूमि में जाते हैं किन्तु कर्मभूमि में तिर्यञ्च अथवा मनुष्यरूप में उत्पन्न नहीं होते। कहा भी है —

सम्यग्दृष्टि जीव की, निश्चय कुगति न होय।
पूर्वबन्ध तें होय तो, सम्यक् दोष न कोय॥

तीन लोक और तीन काल में सम्यग्दर्शन के समान सुखदायक अन्य कोई वस्तु नहीं है। **यह सम्यग्दर्शन ही सर्व धर्मों का मूल है; इसके अतिरिक्त जितने क्रियाकाण्ड हैं, वे सब दुःखदायक हैं।**

छन्द - १७

इस तीसरी ढाल के अन्त में कविवर पण्डित दौलतरामजी, सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हेतु प्रेरणा देते हैं कि –

मोखमहल की प्रथम सिडी है, याबिन ज्ञान चरित्रा।
सम्यक्ता न लहै, सोई दर्शन, धारो भव्य पवित्रा॥
'दौल' समझ सुनि चेत सयानें, काल वृथा मति खोवै।
यह नरभव फिरि मिलन कठिन है, जौ सम्यक् नहीं होवै॥

अन्वयार्थ - यह सम्यग्दर्शन, **(मोखमहल की)** मोक्षरूपी महल की **(प्रथम)** प्रथम **(सिडी है)** सीढ़ी है। **(याबिन)** इस (सम्यग्दर्शन) के बिना, **(ज्ञान चरित्रा)** ज्ञान और चारित्र **(सम्यक्ता)** सम्यक्‌पने को **(न लहै)** प्राप्त नहीं करते; इसलिए **(भव्य)** हे भव्य जीवों! **(सोई)** ऐसे **(पवित्रा)** पवित्र **(दर्शन)** सम्यग्दर्शन को **(धारो)** धारण करो। **('दौल')** कविवर दौलतरामजी कहते हैं कि **(सयानें)** हे विवेकी ज्ञानमयी जीवों! **(सुनि)** सुनों, **(समझ)** समझों और **(चेत)** सावधान होओं; **(काल)** समय को **(वृथा)** व्यर्थ **(मति खोवै)** न गँवाओं, क्योंकि **(जौ)** यदि वर्तमान में **(सम्यक्)** सम्यग्दर्शन **(नहीं होवै)** नहीं हुआ, तो **(यह)** यह **(नरभव)** मनुष्य पर्याय **(फिरि)** पुनः **(मिलन)** मिलना **(कठिन है)** दुर्लभ है।

सम्यग्दर्शन, मोक्षमहल की पहली सीढ़ी है।

भावार्थ - यह सम्यग्दर्शन ही मोक्षरूपी महल में पहुँचने की प्रथम सीढ़ी है। इसके बिना, ज्ञान और चारित्र, सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते; अर्थात्, जब तक सम्यग्दर्शन न हो, तब तक ज्ञान, मिथ्याज्ञान और चारित्र, मिथ्याचारित्र ही कहलाता है; इसलिए प्रत्येक आत्मार्थी को ऐसा पवित्र सम्यग्दर्शन अवश्य धारण करना चाहिए।

पण्डित दौलतरामजी, जीवों को सम्बोधन करते हैं कि — हे विवेकी आत्माओं! ऐसे पवित्र सम्यग्दर्शन के स्वरूप को, अन्य अनुभवी ज्ञानियों से सुनकर, प्राप्त करने में सावधान होओ; अपने अमूल्य मनुष्य जीवन को व्यर्थ न गँवाओं। इस जन्म में ही यदि सम्यक्त्व प्राप्त नहीं किया तो फिर मनुष्यपर्याय आदि अच्छे योग, पुनः पुनः प्राप्त नहीं होंगे।

जैसा परमात्मा, वैसा आत्मा

भाई, प्रभु! तू कैसा है, तेरी प्रभुता की महिमा कैसी है? इसे तूने नहीं जाना है। तू अपनी प्रभुता के भान बिना, बाहर में जिस-तिस के गीत गाया करता है, उसमें तुझे अपनी प्रभुता का लाभ नहीं है। तूने पर के गीत तो गाये, परन्तु अपने गीत नहीं गाये। भगवान की प्रतिमा के सामने कहता है कि 'हे नाथ! हे भगवान!! आप अनन्त ज्ञान के स्वामी हो।' वहाँ सामने से वैसी ही प्रतिध्वनि आती है कि 'हे नाथ! हे भगवान!! आप अनन्त ज्ञान के स्वामी हो...' तात्पर्य यह है कि जैसा परमात्मा का स्वरूप है, वैसा ही तेरा स्वरूप है; उसे तू पहचान। *- पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

तीसरी ढाल का सारांश

आत्मा का कल्याण सुख प्राप्त करने में है। आकुलता का मिट जाना ही सच्चा सुख है। मोक्ष ही सुखरूप है; इसलिए प्रत्येक आत्मार्थी को मोक्षमार्ग में प्रवृत्ति करना चाहिए।

निश्चयसम्यग्दर्शन-सम्यग्ज्ञान-सम्यक्‌चारित्र – इन तीनों की एकता मोक्षमार्ग है। उसका कथन दो प्रकार से है। निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र तो वास्तव में मोक्षमार्ग है और व्यवहारसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र, मोक्षमार्ग नहीं है; वास्तव में बन्धमार्ग है, लेकिन निश्चयमोक्षमार्ग में कदाचित् (नियमरूप नहीं) सहचर एवं निमित्त होने से उसे व्यवहारमोक्षमार्ग कहा जाता है।

आत्मा की परद्रव्यों से भिन्नता का यथार्थ श्रद्धान, निश्चयसम्यग्दर्शन है; परद्रव्यों से भिन्नता का यथार्थ ज्ञान, निश्चयसम्यग्ज्ञान है, और परद्रव्यों का आलम्बन छोड़कर, आत्मस्वरूप में लीन होना, निश्चयसम्यक्‌चारित्र है। सातों तत्त्वों का यथावत् भेदरूप अटल श्रद्धान, व्यवहारसम्यग्दर्शन कहलाता है। यद्यपि सात तत्त्वों के भेद की अटल श्रद्धा भी शुभराग होने से वास्तव में सम्यग्दर्शन नहीं है किन्तु निचलीदशा; अर्थात्, चौथे, पाँचवें और छठवें गुणस्थान में निश्चयसम्यक्त्व के साथ कदाचित् सहचर एवं निमित्त होने से वह व्यवहारसम्यग्दर्शन कहलाता है।

आठ मद, तीन मूढ़ता, छह अनायतन और शङ्कादि आठ दोष – ये सम्यक्त्व के पच्चीस दोष हैं तथा निःशङ्कितादि आठ, सम्यक्त्व के अङ्ग; अर्थात्, गुण हैं; उन्हें भलीभाँति जानकर, दोषों का त्याग तथा गुणों का ग्रहण करना चाहिए।

जो विवेकी जीव, निश्चयसम्यक्त्व को धारण करता है, उसे जब तक निर्बलता है, तब तक पुरुषार्थ की मन्दता के कारण यद्यपि किञ्चित् भी संयम नहीं होता, तथापि

वह इन्द्रादि के द्वारा आदर पाता है / प्रशंसनीय होता है। तीन लोक और तीन काल में निश्चयसम्यक्त्व के समान सुखकारी अन्य कोई वस्तु नहीं है। समस्त धर्मों का मूल / सार तथा मोक्षमार्ग की प्रथम सीढ़ी, सम्यक्त्व ही है; इसके बिना क्षयोपशमज्ञान और शुभरागरूप चारित्र, सम्यक्पने को प्राप्त नहीं होते; मिथ्या ही कहलाते हैं।

आगामी आयु का बन्ध होने से पूर्व सम्यक्त्व धारण करनेवाला जीव, मृत्यु के पश्चात् दूसरे भव में नारकी; ज्योतिषी, व्यन्तर, भवनवासी देव; नपुंसक; स्त्री; स्थावर; विकलत्रय; पशु; हीनाङ्ग; नीच गोत्रवाला; अल्पायु, तथा दरिद्री नहीं होता। सम्यग्दृष्टि मनुष्य और तिर्यञ्च, मरकर वैमानिक देव होते हैं। सम्यग्दृष्टि देव और नारकी, मरकर कर्मभूमि के उत्तम क्षेत्र में मनुष्य ही होते हैं। यदि सम्यग्दर्शन होने से पूर्व – (१) देव, (२) मनुष्य, (३) तिर्यञ्च, या (४) नरकायु का बन्ध हो गया हो तो वह मरकर (१) वैमानिक देव, (२) भोगभूमि का मनुष्य, (३) भोगभूमि का तिर्यञ्च, अथवा (४) प्रथम नरक का नारकी होता है; इससे नीचे के स्थान में जन्म नहीं होता।– इस प्रकार निश्चय सम्यग्दर्शन की अपार महिमा है।

इसलिए प्रत्येक आत्मार्थी को सत्शास्त्रों को स्वाध्याय, तत्त्वचर्चा, सत्समागम तथा यथार्थ तत्त्वविचार द्वारा निश्चयसम्यग्दर्शन प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि यदि इस मनुष्यभव में निश्चयसम्यक्त्व प्राप्त नहीं किया तो पुनः मनुष्यपर्याय की प्राप्ति आदि सुयोग प्राप्त होना कठिन है।

इस प्रकार अध्यात्मप्रेमी कविवर पण्डित दौलतरामजी द्वारा रचित छहढाला में मुक्तिमार्ग का पहला चरण 'सम्यग्दर्शन : स्वरूप एवं महिमा' का निरूपण करनेवाली तीसरी ढाल पूर्ण हुई।

चौथी ढाल

मुक्तिमार्ग का दूसरा चरण

सम्यग्ज्ञान एवं देशचारित्र

छन्द - १

अब, इस छहढाला ग्रन्थ की चौथी ढाल प्रारम्भ करते हुए पण्डितप्रवर श्री दौलतरामजी सम्यग्ज्ञान का लक्षण कहते हैं –

॥ दोहा ॥

सम्यक्‌श्रद्धा धार पुण, सेवहु सम्यक्‌ज्ञान।
स्व-पर अर्थ बहु धर्मजुत, जौ प्रघटावन भान॥

अन्वयार्थ - (**सम्यक्‌श्रद्धा**) सम्यग्दर्शन (**धार**) धारण करके (**पुण**) फिर (**सम्यक्‌ज्ञान**) सम्यग्ज्ञान का (**सेवहु**) सेवन करो, (**जौ**) जो (सम्यग्ज्ञान) (**बहु धर्मजुत**) अनेक धर्मात्मक (**स्व-पर अर्थ**) अपना और दूसरे पदार्थों का (**प्रघटावन**) ज्ञान कराने में (**भान**) सूर्य समान है।

भावार्थ - जिस प्रकार सूर्य, समस्त पदार्थों को तथा स्वयं अपने को यथावत् प्रकाशित करता है; उसी प्रकार जो अनेक धर्मयुक्त निज आत्मा को तथा पर पदार्थों को ज्यों का त्यों प्रकाशित करता है, उसे सम्यग्ज्ञान कहते हैं। सम्यग्दर्शनसहित, सम्यग्ज्ञान का सेवन करना चाहिए।

छन्द २

इस छन्द में कविवर, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान का अन्तर दर्शाते हैं –

॥ रोला छन्द ॥

सम्यक् साथै ज्ञान होइ, पै भिन्न अराधौ।
लक्षण श्रद्धा जानि, दुहून में भेद अबाधौ॥
सम्यक् कारण जानि, ज्ञान कारज है सोई।
जुगपति होते भी, प्रकास दीपक तें होई॥

अन्वयार्थ - (**सम्यक् साथै**) सम्यग्दर्शन के साथ (**ज्ञान**) सम्यग्ज्ञान (**होइ**) होता है, (**पै**) तथापि उन दोनों को (**भिन्न**) भिन्न (**अराधौ**) समझना चाहिए, क्योंकि (**लक्षण**) उन दोनों के लक्षण क्रमशः (**श्रद्धा**) श्रद्धा करना और (**जानि**) जानना है, तथा (**सम्यक्**) सम्यग्दर्शन (**कारण**) कारण है और (**ज्ञान**) सम्यग्ज्ञान (**कारज है**) कार्य है, (**सोई**) यह भी (**दुहून में**) दोनों में (**अबाधौ**) निर्बाध (**भेद**) अन्तर है। जिस प्रकार (**जुगपति**) एक साथ (**होते भी**) होने पर भी (**प्रकास**) उजाला, (**दीपक तें**) दीपक की ज्योति से (**होई**) होता है, उसी प्रकार।

भावार्थ - यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान एक साथ प्रगट होते हैं, तथापि उन दोनों में निम्न अन्तर हैं –

● दोनों भिन्न-भिन्न गुणों की पर्यायें हैं। सम्यग्दर्शन, श्रद्धागुण की शुद्धपर्याय है और सम्यग्ज्ञान, ज्ञानगुण की शुद्धपर्याय है।

● सम्यग्दर्शन का लक्षण, विपरीत अभिप्रायरहित तत्त्वार्थश्रद्धान है और सम्यग्ज्ञान का लक्षण, संशय-विपर्यय और अनध्यवसाय नामक दोषरहित स्व-पर का यथार्थ निर्णय / ज्ञान है।

● सम्यग्दर्शन, निमित्त, अर्थात् कारण है और सम्यग्ज्ञान, नैमित्तिक, अर्थात् कार्य है।

प्रश्न - ज्ञान-श्रद्धान तो युगपत्; अर्थात्, एक साथ होते हैं; उनमें कारण -कार्यपना कैसे सम्भव है?

उत्तर - 'वह हो, तो वह होता है' – इस अपेक्षा कारण-कार्यपना होता है। जैसे, दीपक और प्रकाश युगपत् होते हैं तथापि दीपक हो तो प्रकाश हो; इसलिए दीपक कारण है और प्रकाश कार्य है; उसी प्रकार ज्ञान-श्रद्धान में हैं।

(- मोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ ८८)

जब तक सम्यग्दर्शन नहीं होता, तब तक ज्ञान, सम्यग्ज्ञान नहीं कहलाता; इसलिए सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान का कारण है।

इसी भाव को पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की निम्न गाथाओं में भी स्पष्ट कहा है –

पृथगाराधनमिष्टं दर्शनसहभाविनोऽपि बोधस्य।
लक्षणभेदेन यतो, नानात्वं संभवत्यनयोः॥ ३२॥
सम्यग्ज्ञानं कार्यं सम्यक्त्वं कारणं वदन्ति जिनाः।
ज्ञानाराधनमिष्टं सम्यक्त्वानन्तरं तस्मात्॥ ३३॥
कारणकार्यविधानं, समकालं जायमानयोरपि हि।
दीपप्रकाशयोरिव, सम्यक्त्वज्ञानयोः सुघटम्॥ ३४॥

अर्थात्, सम्यग्दर्शन के साथ ही उत्पन्न होने पर भी, सम्यग्ज्ञान का जुदा ही आराधन करना कल्याणकारी है, कारण कि इन दोनों में; अर्थात्, सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान में लक्षण के भेद से भिन्नता सम्भव है।

जिनेन्द्रदेव, सम्यग्ज्ञान को कार्य और सम्यक्त्व को कारण कहते हैं; इसलिए सम्यक्त्व के बाद तुरन्त ही ज्ञान की आराधना योग्य है।

निश्चय से सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान दोनों एक समय में उत्पन्न होने पर भी दीपक और प्रकाश की तरह, कारण और कार्य की विधि भले प्रकार घटित होती है।

(- श्रीअमृतचन्द्राचार्यदेवरचित पुरुषार्थसिद्ध्युपाय)

छन्द - ३

प्रस्तुत छन्द में सम्यग्ज्ञान के भेद-प्रभेदों का स्पष्टीकरण किया जा रहा है–

तासु भेद द्वै हैं, परोक्ष परतक्ष तिनमाहीं।
मति श्रुति दोय परोक्ष, अक्ष मन तें उपजाहीं॥
अवधिज्ञान मनपर्यय, ये हैं देशप्रतिक्षा।
द्रव्य क्षेत्र परमाण लियै, जानें जिय स्वक्षा॥

अन्वयार्थ - **(तासु)** उस सम्यग्ज्ञान के **(परोक्ष)** परोक्ष और **(परतक्ष)** प्रत्यक्ष, **(द्वै)** दो **(भेद हैं)** भेद हैं; **(तिनमाहीं)** उनमें **(मति श्रुति)** मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, **(दोय)** ये दोनों **(परोक्ष)** परोक्षज्ञान हैं क्योंकि वे **(अक्ष मन तें)** इन्द्रियों तथा मन के निमित्त से **(उपजाहीं)** उत्पन्न होते हैं।**(अवधिज्ञान)** अवधिज्ञान और **(मनपर्यय)** मन:पर्ययज्ञान, **(ये)** ये दोनों **(देशप्रतिक्षा)** देशप्रत्यक्ष ज्ञान **(हैं)** हैं क्योंकि इन से **(जिय)** जीव, **(द्रव्य क्षेत्र परमाण)** द्रव्य और क्षेत्र की मर्यादा **(लियै)** पूर्वक **(स्वक्षा)** स्पष्ट **(जानें)** जानता है।

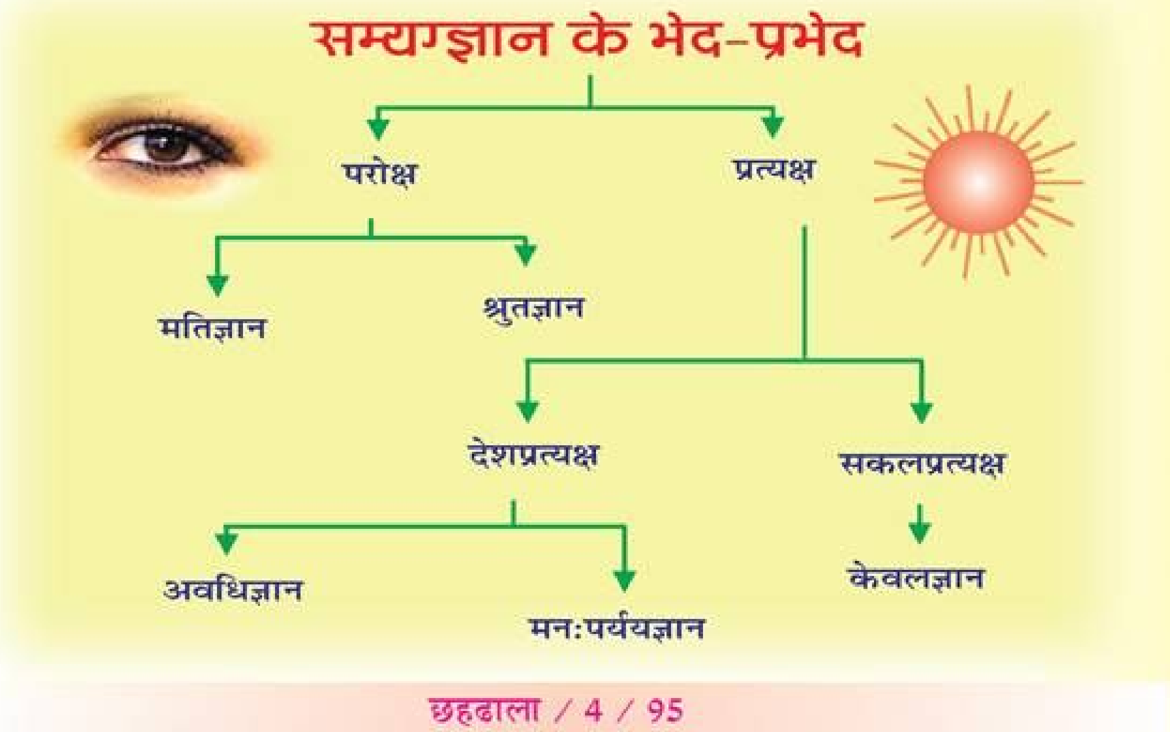

भावार्थ - सम्यग्ज्ञान के दो भेद हैं — १. प्रत्यक्ष, और २. परोक्ष। उनमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान, परोक्षज्ञान हैं क्योंकि ये दोनों ज्ञान, इन्द्रियों तथा मन के निमित्त से वस्तु को अस्पष्ट जानते हैं। सम्यक्‌मति-श्रुतज्ञान, स्वानुभवकाल में प्रत्यक्ष होते हैं क्योंकि उसमें इन्द्रियाँ और मन निमित्त नहीं हैं। अवधिज्ञान और मन:पर्ययज्ञान देशप्रत्यक्ष हैं क्योंकि जीव इन दो ज्ञानों से रूपी द्रव्य को द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादापूर्वक स्पष्ट जानता है।

जो ज्ञान, इन्द्रियों तथा मन के निमित्त से वस्तु को अस्पष्ट जानता है, उसे परोक्षज्ञान कहते हैं।

जो ज्ञान, रूपी वस्तु को द्रव्य-क्षेत्र-काल और भाव की मर्यादापूर्वक स्पष्ट जानता है, उसे देशप्रत्यक्ष कहते हैं। *(– जैन सिद्धान्त प्रवेशिका)*

धन्य! आज का दिन!!

चैतन्य की मस्ती में मस्त मुनि को देखते हुए गृहस्थ को ऐसा भाव आता है कि अहा! रत्नत्रय साधनेवाले सन्त को शरीर की अनुकूलता रहे — ऐसा आहार-औषध देऊँ, जिससे वे रत्नत्रय को निर्विघ्न साधें; इसमें मोक्षमार्ग का बहुमान है। अहो! धन्य ये सन्त और धन्य आज का दिन कि मेरे आँगन में मोक्षमार्गी मुनिराज के चरण पड़े..... आज तो मेरे आँगन में साक्षात् मोक्षमार्ग आया....। वाह! धन्य ऐसे मोक्षमार्गी मुनियों को, जिन्हें देखते ही श्रावक का हृदय बहुमान से उछल जाता है। जिसे धर्मी के प्रति भक्ति नहीं, आदर नहीं; उसे धर्म का भी प्रेम नहीं। *– पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

छन्द - ४

अब, केवलज्ञान का स्वरूप बताते हुए, ज्ञान की महिमा बतायी जा रही है–

सकल द्रव्य के गुण अनन्त, पर्याय अनंता।
जानें येकै काल, प्रघट केवलभगवंता॥
ज्ञान समान न आन, जगत में सुख कौ कारण।
यह परमामृत जन्म-जरा-मृत रोग निवारण॥

अन्वयार्थ – जिस ज्ञान से (**केवलभगवंता**) केवलज्ञानी भगवान, (**सकल द्रव्य के**) छह द्रव्यों के (**अनंत**) अपरिमित (**गुण**) गुणों को और (**अनंता**) अनन्त (**पर्याय**) पर्यायों को (**येकै काल**) एक साथ (**प्रघट**) स्पष्ट (**जानें**) जानते हैं, उस ज्ञान को (**सकल**) सकलप्रत्यक्ष अथवा केवलज्ञान कहते हैं।

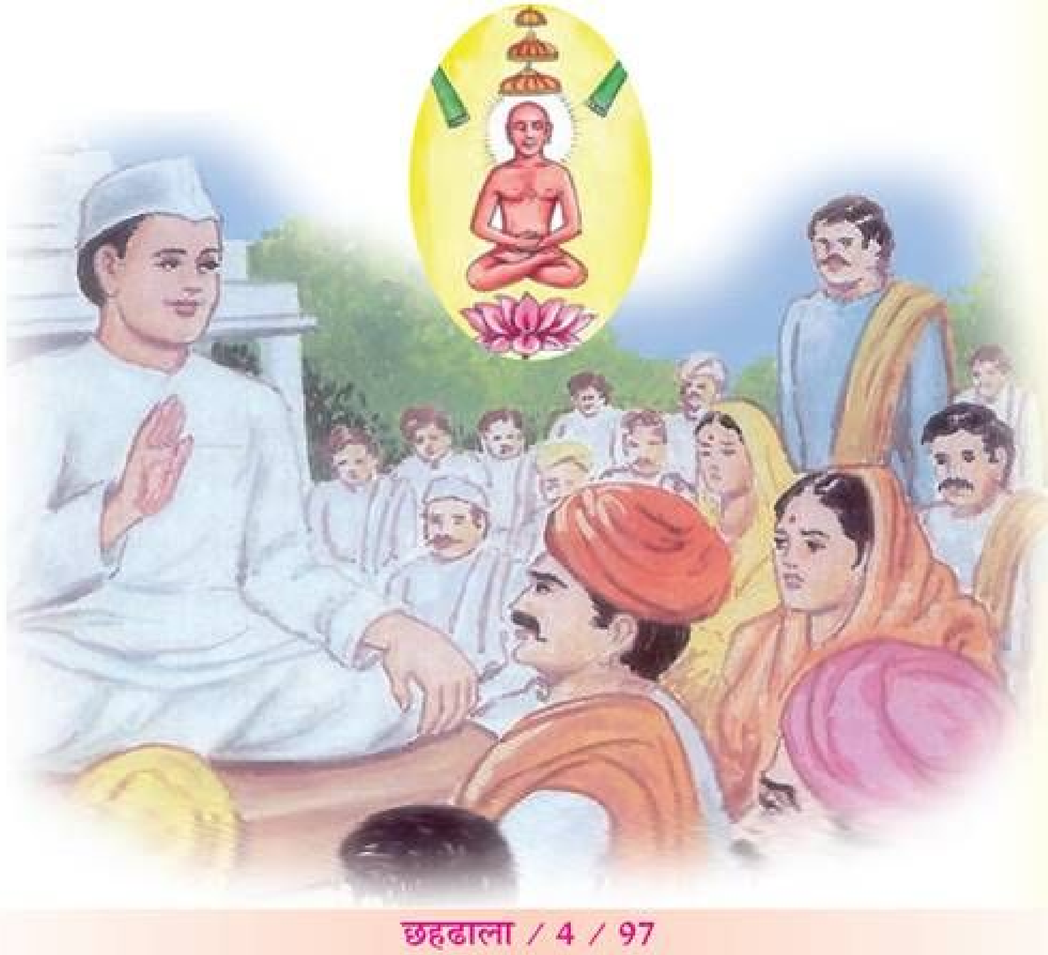

(जगत में) इस जगत में **(ज्ञान समान)** सम्यग्ज्ञान जैसा **(आन)** दूसरा कोई पदार्थ **(सुख कौ)** सुख का **(न कारण)** कारण नहीं है। **(यह)** यह सम्यग्ज्ञान ही **(जन्म-जरा-मृत रोग निवारण)** जन्म, जरा; अर्थात्, वृद्धावस्था और मृत्युरूपी रोगों को दूर करने के लिए **(परमामृत)** उत्कृष्ट अमृत-समान है।

भावार्थ - जो ज्ञान, तीन काल और तीन लोकवर्ती सर्व पदार्थों; अर्थात्, अनन्त धर्मात्मक सर्व द्रव्य-गुण-पर्यायों को, प्रत्येक समय में यथास्थित, परिपूर्णरूप से स्पष्ट और एक साथ जानता हे, उस ज्ञान को केवलज्ञान कहते हैं, वह सकलप्रत्यक्ष है।

केवली भगवान, सभी द्रव्य, गुण और पर्यायों को जानते हैं किन्तु उनके अपेक्षित धर्मों को नहीं जान सकते — ऐसा मानना, असत्य है। वे मात्र अपने आत्मा को ही जानते हैं किन्तु सर्व को नहीं जानते — ऐसा मानना भी न्यायविरुद्ध है। वास्तविकता यह है कि केवली भगवान सर्वज्ञ होने से अनेकान्तस्वरूप प्रत्येक वस्तु को प्रत्यक्ष जानते हैं।

इस संसार में सम्यग्ज्ञान के समान सुखदायक अन्य कोई वस्तु नहीं है। यह सम्यग्ज्ञान ही जन्म, जरा और मृत्युरूपी रोगों का नाश करने के लिए उत्तम अमृत समान औषधि है।

छन्द - ५

ज्ञानी और अज्ञानी का अन्तर स्पष्ट करते हुए पण्डित दौलतरामजी कहते हैं कि आत्मज्ञान के बिना सुखोपलब्धि किसी भी दशा में सम्भव नहीं है –

कोटि जन्म तप तपै, ज्ञान बिन कर्म झरैं जे।
ज्ञानी कें छिन में, त्रिगुप्ति तें सहज टरैं ते॥
मुनिव्रत धारि अनंत बार, ग्रैवक उपजायौ।
पै निज आतमज्ञान बिना, सुख लेश न पायौ

अन्वयार्थ - अज्ञानी जीव को (**ज्ञान बिना**) सम्यग्ज्ञान के बिना (**कोटि जन्म**) करोड़ों जन्मों तक (**तप तपै**) तप करने से (**जे कर्म**) जितने कर्म (**झरैं**) नाश होते हैं, (**ते**) उतने कर्म (**ज्ञानी के**) सम्यग्ज्ञानी जीव के (**त्रिगुप्ति तें**) मन, वचन और काय की प्रवृत्ति को रोकने से; अर्थात्, निर्विकल्प शुद्ध स्वानुभव के

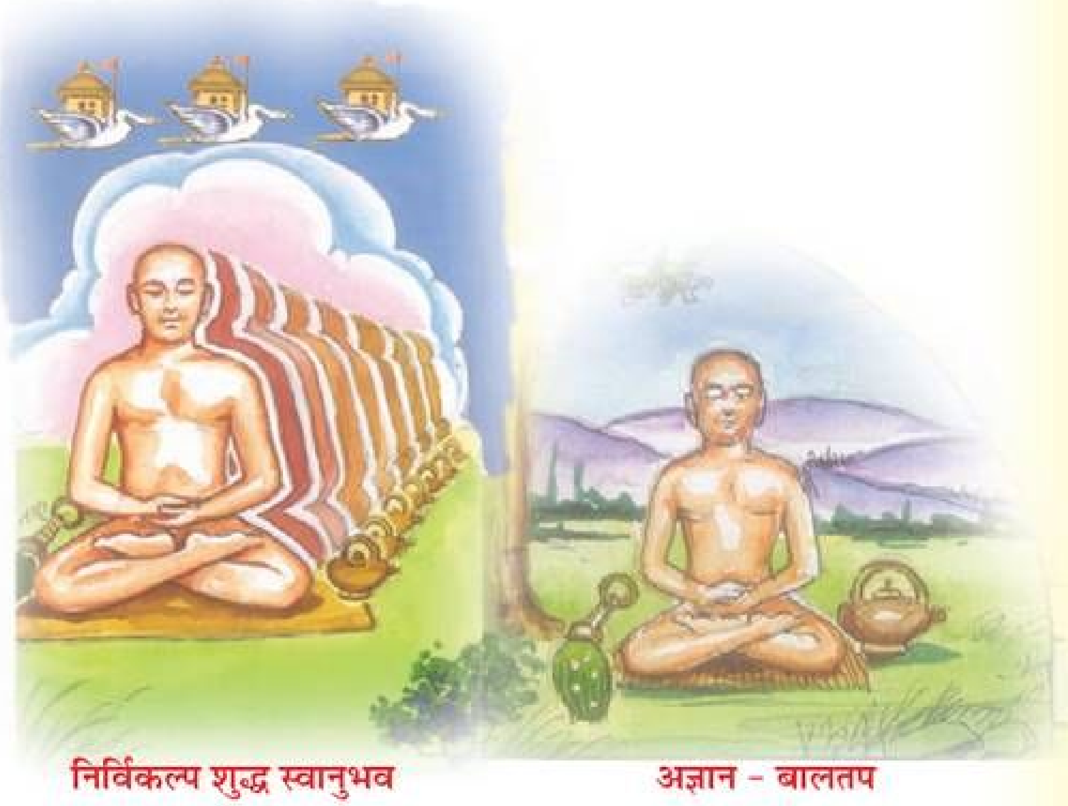

निर्विकल्प शुद्ध स्वानुभव | अज्ञान - बालतप

चौथी ढाल

बल से (**छिन में**) क्षणमात्र में (**सहज**) सरलता से (**टरैं तें**) नष्ट हो जाते हैं। यह जीव, (**मुनिव्रत**) मुनियों के महाव्रतों को (**धारि**) धारण करके (**अनंत बार**) अनन्त बार (**ग्रैवक**) नववें ग्रैवेयक तक (**उपजायौ**) उत्पन्न हुआ, (**पै**) परन्तु (**निज आतमज्ञान बिना**) अपने आत्मा के ज्ञान बिना (**लेश**) किञ्चित्मात्र भी (**सुख**) सुख (**न पायौ**) प्राप्त नहीं कर सका है।

भावार्थ – मिथ्यादृष्टि जीव, आत्मज्ञान (सम्यग्ज्ञान) के बिना करोड़ों जन्मों –भवों तक बालतपरूप उद्यम करके, जितने कर्मों का नाश करता है, उतने कर्मों का नाश सम्यग्ज्ञानी जीव, स्वोन्मुख ज्ञातापनेरूप स्वरूपगुप्ति से क्षणमात्र में सहज ही कर डालता है।

इसी प्रकार का भाव व्यक्त करते हुए आचार्य कुन्दकुन्ददेव श्रीप्रवचनसार परमागम की गाथा २३८ में कहते हैं –

जं अण्णाणी कम्मं खवेदि भवसयसहस्सकोडीहिं।
तं णाणी तिहिं गुत्तो खवेदि उस्सासमेत्तेण॥

अर्थात्, जो कर्म, अज्ञानी लक्षकोटि भवों में खपाता है, नष्ट करता है; ज्ञानी जीव, वह कर्म तीन प्रकार (मन-वचन-काय) से गुप्त होने से उच्छ्वासमात्र में खपा देता है।

यह जीव, द्रव्यलिङ्ग मुनिपना धारण करके एवं महाव्रतों का निरतिचार पालन करके, नववें ग्रैवेयक तक के विमान में अनन्त बार उत्पन्न हुआ, परन्तु आत्मज्ञान; अर्थात्, सम्यग्ज्ञान अथवा स्वानुभव के बिना, वह लेशमात्र भी सुख प्राप्त नहीं कर सका।

छन्द - ६

करुणावन्त श्रीगुरु, दुर्लभ मनुष्यपर्याय को तत्त्वाभ्यास से सफल बनाने की मङ्गलमय प्रेरणा देते हुए कहते हैं –

तातें जिनवर कथित, तत्त्व अभ्यास करीजै।
संसय विभ्रम मोह त्यागि, आपौ लखि लीजै॥
यह मानुष पर्जाय, सुकल, सुनिवौ जिनवानी।
यह विधि गये न मिलै, सुमणि जौ उदधि समानी॥

अन्वयार्थ - (**तातें**) इसलिए (**जिनवर कथित**) जिनेन्द्र भगवान द्वारा कथित (**तत्त्व**) परमार्थ तत्त्व का (**अभ्यास**) अभ्यास (**करीजै**) करना चाहिए और (**संसय**) संशय, (**विभ्रम**) विपर्यय, तथा (**मोह**) अनध्यवसाय (अनिश्चितता) को (**त्यागि**) छोड़कर, (**आपौ**) अपने आत्मा को (**लखि लीजै**) लक्ष्य में लेना चाहिए, अर्थात् जानना चाहिए।

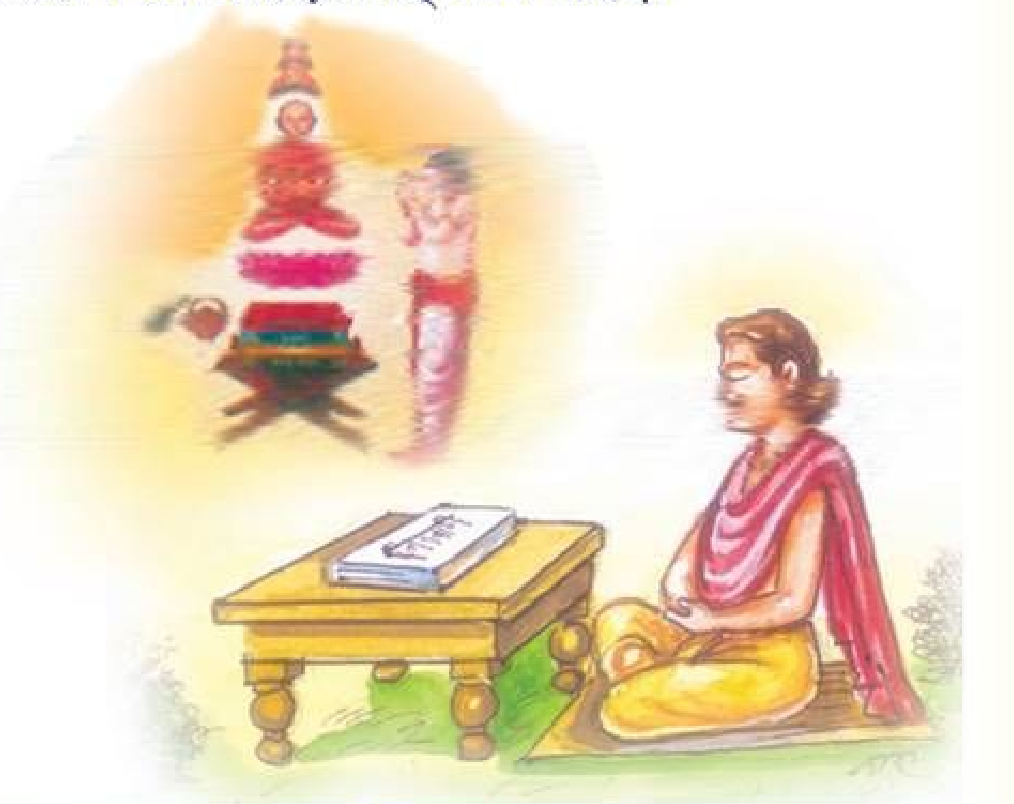

यदि ऐसा नहीं किया तो **(यह)** यह **(मानुष पर्जाय)** मनुष्यभव, **(सुकल)** उत्तम कुल और **(जिनवानी)** जिनवाणी का **(सुनिवौ)** सुनना, **(यह विधि)** ये सब सुयोग **(गये)** बीत जाने पर, **(उदधि)** समुद्र में **(समानी)** समाये-डूबे हुए **(सुमनि जौं)** सच्चे रत्न की भाँति, पुनः **(न मिलै)** मिलना कठिन है।

भावार्थ - आत्मा और परवस्तुओं के भेदज्ञान के लिये जिनदेव द्वारा प्ररूपित सच्चे तत्त्वों का पठन-पाठन, मनन करना चाहिए और संशय, विपर्यय, तथा अनध्यवसाय — सम्यग्ज्ञान के इन तीन दोषों को दूर करके, आत्मस्वरूप को जानना चाहिए।

संशय - विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः – 'इस प्रकार है अथवा इस प्रकार?' – ऐसे परस्पर विरुद्धतापूर्वक दो रूप ज्ञान को संशय कहते हैं।

विपर्यय - विपरीतैकोटिनिश्चयो विपर्ययः – वस्तुस्वरूप से विरुद्धतापूर्वक 'यह ऐसा ही है' – इस प्रकार एक रूप ज्ञान, विपर्यय है। उसके तीन भेद हैं – कारणविपर्यय, स्वरूपविपर्यय तथा भेदाभेदविपर्यय।

अनध्यवसाय - किमित्यालोचनमात्रमनध्यवसायः – 'कुछ है' – ऐसा निर्णयरहित ज्ञान, अनध्यवसाय है।

यदि इस अवसर में तत्त्वाभ्यास करके आत्मानुभव नहीं किया तो जिस प्रकार समुद्र में डूबा हुआ अमूल्य रत्न पुनः हाथ नहीं आता; उसी प्रकार मनुष्य शरीर, उत्तम जैन श्रावककुल और जिनवचनों का श्रवण आदि सुयोग बीत जाने के बाद, पुनः पुनः प्राप्त नहीं होंगे; इसलिए इस अपूर्व अवसर को व्यर्थ न गँवाकर, आत्मस्वरूप की पहिचान; अर्थात्, सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति करके, यह मनुष्य-जन्म सफल करना चाहिए।

इस सन्दर्भ में आचार्यकल्प पण्डित प्रवर टोडरमलजी का यह मार्गदर्शन सदैव स्मरणीय है –

'इसलिए अवसर चूकना योग्य नहीं है। अब, सर्व प्रकार से अवसर आया है; ऐसा अवसर प्राप्त करना कठिन है; इसलिए श्रीगुरु दयालु होकर मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं, उसमें भव्यजीवों को प्रवृत्ति करना।' *(-मोक्षमार्गप्रकाशक, नौवाँ अधिकार, पृष्ठ ३१३)*

अपने हित को मत भूलना

भाई! संसार तो असार है। संसार की ओर ढलते हुए जितने अशुभ या शुभपरिणाम हैं, वे सब असार हैं। चैतन्यतत्त्व, राग से पार है, उसका बोध करके, उसके वेदन की जो शान्ति है, वह सारभूत है। हे जीव! ज्ञान-वैराग्य की भावना उग्र करके तू ऐसे शान्तरस का पान कर। कदाचित् कोई दुःखद घटना हो गयी हो तो उस समय भी तीव्र वैराग्य द्वारा सारभूत चैतन्य की ऐसी भावना भाना कि जिससे तेरे रत्नत्रय की वृद्धि हो।

प्रतिकूलता आने पर व्याकुल मत होना, परन्तु आराधना में उत्साह प्रगट करके, वैराग्यभावना में दृढ़ रहना; क्रोध की उत्पत्ति मत होने देना, अपूर्व शान्तरस में मग्न रहना... और दीक्षा आदि परमवैराग्य के प्रसङ्गों का स्मरण करके अपनी आत्मा को परम उल्लासपूर्वक रत्नत्रय की आराधना में लगाना। सारभूत चैतन्यभावों को जानकर असाररूप परभावों को छोड़ना। अरे, यह तो आराधना और समाधिमरण का अपूर्व अवसर है... वहाँ अपने हित को मत भूलना। *— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

छन्द - ७

ग्रन्थकार कविवर पण्डित दौलतरामजी सम्यग्ज्ञान की महिमा दर्शाते हुए कहते हैं –

धन समाज गज राज बाज, तो काज न आवै।
ज्ञान आपकौ रूप भयौ, थिर अचल रहावै॥
तासु ज्ञान को कारण, स्व-पर विवेक बखानौं।
कोटि उपाय बनाय भव्य, ताकौं उर आनौ॥

अन्वयार्थ - (**धन**) पैसा, (**समाज**) परिवार; (**गज**) हाथी, (**बाज**) घोड़ा, (**राज**) राज्य आदि (**तो**) तो (**काज**) अपने काम में (**न आवै**) नहीं आते, किन्तु (**ज्ञान**) सम्यग्ज्ञान, (**आपकौ रूप**) आत्मा का स्वरूप है, जो (**भयौ**) प्राप्त होने पर (**थिर**) शाश्वत् (**अचल**) अचल (**रहावै**) रहता है। (**तासु**) उस (**ज्ञान कौ**) सम्यग्ज्ञान का (**कारण**) कारण, (**स्व-पर विवेक**) आत्मा और परवस्तुओं का भेदविज्ञान (**बखानौं**) कहा गया है; इसलिए (**भव्य**) हे भव्य जीवों! (**कोटि**) करोड़ों (**उपाय**) उपाय (**बनाय**) करके भी (**ताकौं**) उस भेदविज्ञान को (**उर आनौ**) हृदय में धारण करो।

भावार्थ - धन-सम्पत्ति, परिवार, नौकर-चाकर, हाथी, घोड़ा तथा राज्यादि कोई भी पदार्थ आत्मा को सहायक नहीं होते, किन्तु सम्यग्ज्ञान आत्मा का स्वरूप है; वह एक बार प्राप्त होने के पश्चात् अक्षय हो जाता है; अर्थात्, कभी नष्ट नहीं होता; अचल एकरूप रहता है। आत्मा और परवस्तुओं का भेदविज्ञान ही उस सम्यग्ज्ञान का कारण है; इसलिए प्रत्येक आत्मार्थी भव्य जीव को करोड़ों उपाय करके भी भेदविज्ञान के द्वारा सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

इस सम्बन्ध में आचार्य अमृतचन्द्र के ये पुरुषार्थप्रेरक वचन अनुकरणीय हैं –

अयि कथमपि मृत्वा तत्त्वकौतूहली सन्
अनुभव भव मूर्त्तेः पार्श्ववर्त्ती मुहूर्तम्।
पृथगम विलसंतं स्वं समालोक्य येन
त्यजसि झगिति मूर्त्या साकमेकत्वमोहम्॥

अर्थात्, आचार्यदेव कोमल सम्बोधनपूर्वक कहते हैं कि हे भाई! तू किसी प्रकार महा-कष्ट से अथवा मरकर भी तत्त्वों का कौतूहली होकर इस शरीरादि से मूर्तद्रव्य का एक मुहूर्त (दो घड़ी) पड़ौसी होकर, आत्मानुभव कर कि जिससे अपने आत्मा के विलासरूप, सर्व परद्रव्यों से भिन्न देखकर, इस शरीरादि मूर्तिक पुद्गलद्रव्य के साथ एकत्व के मोह को शीघ्र ही छोड़ देगा। (-श्रीसमयसार, कलश २३)

वही वास्तव में आश्चर्य है!

अहो! जगत में मूर्ख जीवों को क्या कठिन है? वे जो अनर्थ करें, उसका आश्चर्य नहीं है परन्तु नहीं करें वही वास्तव में आश्चर्य है। शरीर को प्रतिदिन पोषते हैं, साथ ही साथ विषयों का भी सेवन करते हैं। उन मूर्ख जीवों को कुछ भी विवेक नहीं है कि विषपान करके, अमरत्व की इच्छा रखते हैं – सुख की वांछा करते हैं। *- श्री गुणभद्राचार्य, आत्मानुशासन*

चौथी ढाल

छ
ह
ढा
ला

छन्द - ८

पण्डितप्रवर दौलतरामजी, सम्यग्ज्ञान की अपूर्व महिमा बताते हुए कहते हैं कि सम्यग्ज्ञान ही विषयदाह का नाशक है –

जे पूरब शिव गये, जाहि अरु आगें जे हैं।
ते सव ज्ञानतनी महिमा, मुनिनाथ कहै हैं॥
विषय-चाह दव दाह, जगतजन अरन दझावै।
तासु उपाय न आन, ज्ञान घनघान बुझावै॥

भावार्थ – (**पूरब**) पूर्व काल में (**जे**) जो जीव, (**शिव**) मोक्ष (**गये**) गये हैं, वर्तमान में (**जाहि**) जा रहे हैं (**अरु**) और (**आगें**) भविष्य में (**जे हैं**) जाएँगे, (**ते**) वह (**सव**) सब (**ज्ञानतनी**) सम्यग्ज्ञान की ही (**महिमा**) महिमा है — ऐसा (**मुनिनाथ**) जिनेन्द्रदेव (**कहै है**) कहते हैं। (**विषय-चाह**) पाँच इन्द्रियों के

विषयों का इच्छारूपी (**दव दाह**) भयङ्कर दावानल, (**जगतजन**) संसारी जीवोंरूपी (**अरन**) अरण्य-पुराने वन को (**दझावै**) जला रहा है। (**तासु**) उसकी शान्ति का (**उपाय**) उपाय (**आन न**) दूसरा नहीं है; मात्र (**ज्ञान घनघान**) सम्यक्ज्ञानरूपी वर्षा का समूह ही उसे (**बुझावै**) शान्त करता है।

भावार्थ - भूत, वर्तमान और भविष्य — तीनों काल में जो जीव, मोक्षसुख को प्राप्त हुए हैं, वर्तमान में (विदेहक्षेत्र से) हो रहे हैं और भविष्य में होंगे, वे इस सम्यग्ज्ञान की ही महिमा / माहात्म्य है — ऐसा पूर्वाचार्यों ने कहा है।

जिस प्रकार वन में लगी हुई अग्नि, अर्थात् दावानल, वहाँ की समस्त वस्तुओं को भस्म कर देता है; उसी प्रकार पाँच इन्द्रियों सम्बन्धी विषयों की इच्छा, संसारी जीवों को जलाती है - दु:ख देती है और जिस प्रकार वर्षा की झड़ी, उस दावानल को बुझा देती है; उसी प्रकार यह सम्यग्ज्ञान, विषयों की अग्नि को शान्त कर देता है / नष्ट कर देता है।

चौथी ढाल

आत्मरुचि

जिस प्रकार कोई बालक अपनी माता से बिछुड़ गया हो, उससे पूछें कि 'तेरा नाम क्या ?' तो कहता है 'मेरी माँ'; 'तेरा गाँव कौन ?' तो कहता है 'मेरी माँ'; 'तेरे माता-पिता कौन हैं ?' तो कहता है 'मेरी माँ'; उसी प्रकार जिसे आत्मा की सच्ची रुचि से ज्ञायकस्वभाव प्राप्त करना है, उसे हर एक प्रसङ्ग में 'ज्ञायकस्वभाव... ज्ञायकस्वभाव' — ऐसी लगन बनी ही रहती है, उसी की निरन्तर रुचि एवं भावना रहती है।

- पूज्य बहिनश्री चम्पाबेन

छन्द - ९

सम्यग्ज्ञान के सम्पूर्ण कथन का सारभूत तात्पर्य बतलाते हुए ग्रन्थकार कहते हैं –

पुन्य-पाप फलमाहि, हरख बिलखौ मति भाई।
यह पुद्‌गल पर्जाय, उपजि बिनसै थिर थाई॥
लाख बात की बात यहै, निश्चै उर लावौ।
तोरि सकल जग धंध-फंद, नित आतम ध्यावौ॥

अन्वयार्थ - **(भाई)** हे आत्मार्थी प्राणी! **(पुन्य-फलमाहि)** पुण्य के फल में **(हरख मति)** हर्ष न कर, और **(पाप फलमाहि)** पाप के फल में **(बिलखौ मति)** शोक न कर, क्योंकि **(यह)** पुण्य और पाप **(पुद्‌गल पर्जाय)** पुद्‌गल की

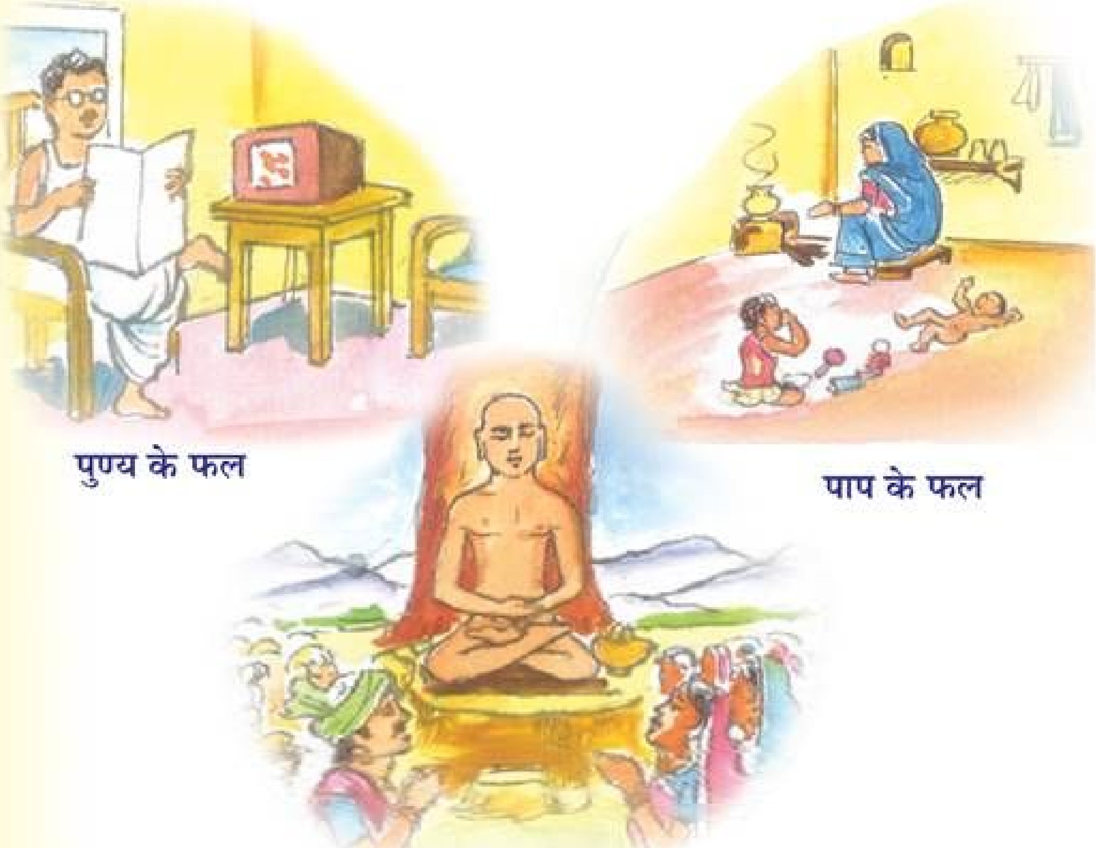

पुण्य के फल

पाप के फल

हितकारी आत्मा का ध्यान

पर्यायें हैं; ये (**थिर**) सदा ही (**उपजि**) उत्पन्न होकर (**विनसै**) नष्ट हो जाती हैं, (**थाई**) फिर उत्पन्न होकर नष्ट होती हैं; तात्पर्य यह है कि स्थायी नहीं हैं। (**उर**) अपने अन्तर में (**निश्चै**) निश्चय से-वास्तव में (**लाख बात की बात**) लाखों बातों का सार (**यहै**) यही (**लावौ**) ग्रहण करो कि (**जग**) संसार के (**सकल**) समस्त (**धंध-फंद**) राग-द्वेषरूप विकारी-मलिनभाव (**तोरि**) तोड़कर, (**नित**) सदैव (**आतम ध्यावौ**) अपने आत्मा का ध्यान करो !

भावार्थ - आत्मार्थी जीव का कर्तव्य है कि धन, मकान, दुकान, कीर्ति, निरोगी शरीरादि पुण्य के फल में हर्ष तथा उनके वियोग में शोक न करे, क्योंकि परपदार्थ सदा भिन्न हैं, ज्ञेयमात्र हैं; उनमें किसी को अनुकूल-प्रतिकूल अथवा इष्ट -अनिष्ट मानना, जीव की भूलमात्र है; इसलिए पुण्य-पाप के फल में हर्ष-शोक नहीं करना चाहिए।

जीव यदि किसी भी परपदार्थ को भला या बुरा मानता है तो उसके प्रति राग या द्वेष हुए बिना नहीं रहता। जिसने परपदार्थ; अर्थात्, परद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव को हितकर अथवा अहितकर माना है, उसने अनन्त परपदार्थों को राग-द्वेष करने योग्य माना है और अनन्त परपदार्थ मुझे सुख-दुःख के कारण हैं — ऐसा भी माना है; यह मान्यता भूलयुक्त है। इसलिए उस भूल को छोड़कर, निज ज्ञानानन्दस्वरूप का निर्णय करके, स्वान्मुख होकर ज्ञाता-दृष्टा रहना ही सुखी होने का एकमात्र उपाय है।

पुण्य-पाप का बन्ध, पुद्गल की पर्यायें / अवस्थाएँ हैं। उनके उदय में प्राप्त संयोग भी क्षणिक संयोगरूप से आते-जाते हैं। जितने काल तक वे निकट रहें, उतने काल भी सुख-दुःख देने में समर्थ नहीं हैं।

सनातन वस्तुधर्म; अर्थात्, जैनधर्म के समस्त उपदेश का सार यही है कि शुभाशुभभाव, संसार है; इसलिए उनकी रुचि छोड़कर, स्वान्मुख होकर, निश्चय सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक निज आत्मस्वरूप में एकाग्र / लीन होना ही जीव का कर्तव्य है।

छन्द - १०

अब, सम्यग्ज्ञान का विषय पूर्णकर, सम्यक्चारित्र धारण करने की प्रेरणा देते हुए कविवर, देशचारित्र का वर्णन प्रारम्भ करते हैं –

सम्यक्ज्ञानी होय, बऊरि दिढ़ चारित लीजै।
एक देश अर सकल देश, तसु भेद कहीजै॥
त्रस हिंसा कौ त्याग, वृथा थावर ण संघारै।
पर वधिकार कठोर निंद, नहीं बैंन उचारै॥

अन्वयार्थ – (**सम्यक्ज्ञानी**) सम्यग्ज्ञानी (**होय**) होकर (**बऊरि**) फिर (**दिढ़**) दृढ़ (**चारित**) सम्यक्चारित्र (**लीजै**) का पालन करना चाहिए। (**तसु**)

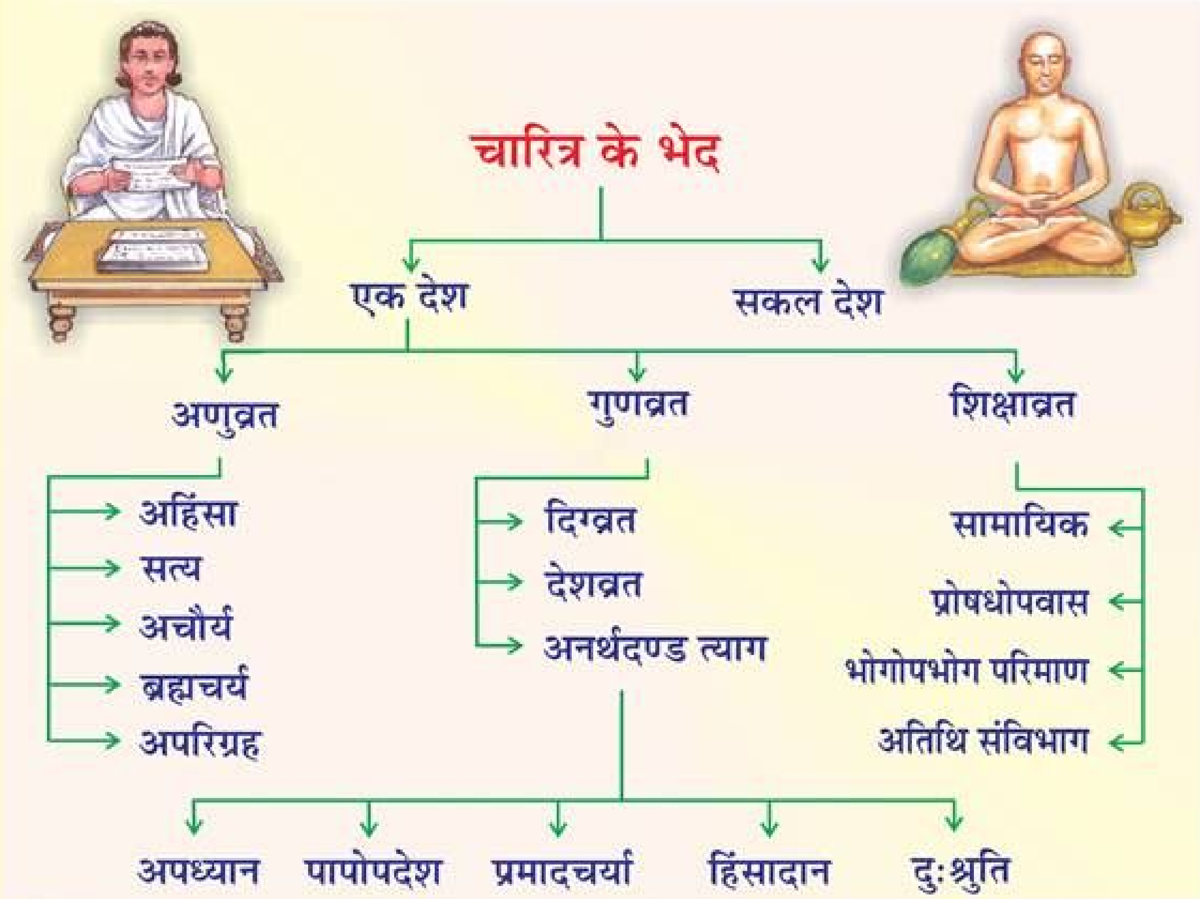

उस सम्यक्चारित्र के **(एकदेश)** एकदेश **(अर)** और **(सकल देश)** सर्व देश — ऐसे दो **(भेद)** भेद **(कहीजै)** कहे गये हैं।

(त्रस हिंसा कौ) त्रस जीवों की हिंसा का **(त्याग)** त्याग करना और **(वृथा)** बिना कारण **(थावर)** स्थावर जीवों का **(ण संघारै)** घात न करना, **अहिंसाणुव्रत** कहलाता है। **(पर वधिकार)** दूसरों के प्रति दु:खदायक, **(कठोर)** कठोर और **(निंद)** निंद्यनीय **(बैंन)** वचन **(नहीं उचारै)** न बोलना, **सत्याणुव्रत** कहलाता है।

भावार्थ – सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके, सम्यक्चारित्र प्रगट करना चाहिए। उस सम्यक्चारित्र के दो भेद हैं — (१) एक देश, अर्थात् अणु / देश, अथवा स्थूलचारित्र, और (२) सर्व देश, अर्थात् सकल / महा, अथवा सूक्ष्मचारित्र। उनमें सकलचारित्र का पालन मुनिराज करते हैं और देशचारित्र का पालन श्रावक करते हैं। इस चौथी ढाल में देशचारित्र का वर्णन किया गया है। सकलचारित्र का वर्णन छठवीं ढाल में किया जाएगा।

१. अहिंसा अणुव्रत – त्रस जीवों की सङ्कल्पी हिंसा का सर्वथा त्याग करके, निष्प्रयोजन स्थावर जीवों का घात न करना, वह अहिंसा अणुव्रत है। अहिंसा अणुव्रत का धारण करनेवाला जीव 'यह घात करने योग्य है, मैं इसे मारूँ' — इस प्रकार सङ्कल्पसहित किसी त्रस जीव की हिंसा नहीं करता, किन्तु इस व्रत का धारी आरम्भी, उद्योगिनी तथा विरोधिनी हिंसा का त्यागी नहीं हो सकता।

२. सत्य अणुव्रत – दूसरे के प्राणों को घातक, कठोर और निंद्यनीय वचन न बोलना, न दूसरों से बुलवाना, और न अनुमोदना करना, सत्य अणुव्रत है....।

चौथी ढाल

छन्द - ११

धर्मात्मा श्रावक के अणुव्रतों का स्वरूप पूर्ण करके कविवर गुणव्रतों का कथन प्रारम्भ करते हैं –

जल-मृतिका विन और नही कछु ग्रहै अदत्ता।
निज वनिता विन सकल नारि सौं रहै विरक्ता॥
अपनी शक्ति प्रमाण, परिग्रह थोरौ राखै।
दश दिश गमन प्रमाण गनि, तसु सीम न नाखै॥

अन्वयार्थ - (**जल-मृतिका विन**) पानी और मिट्टी के अतिरिक्त (**और कछु**) अन्य कोई वस्तु (**अदत्ता**) बिना दिये (**नहीं**) नहीं (**ग्रहै**) लेना, **अचौर्याणुव्रत** हैं।(**निज**) अपनी (**वनिता विन**) स्त्री के अतिरिक्त (**सकल नारि सौं**) अन्य सर्व स्त्रियों से (**विरक्ता**) विरक्त (**रहै**) रहना, **ब्रह्मचर्याणुव्रत** है। (**अपनी**) अपनी (**शक्ति प्रमाण**) शक्ति के अनुसार (**थोरौ**) मर्यादित (**परिग्रह**) परिग्रह (**राखै**) रखना, **परिग्रह-परिमाणाणुव्रत** है।(**दश दिश**) दसों दिशाओं में (**गमन**) जाने-आने की (**प्रमाण**) मर्यादा (**गनि**) रखकर, (**तसु**) उस (**सीम**) सीमा का (**न नाखै**) उल्लंघन न करना, **दिग्व्रत** है।

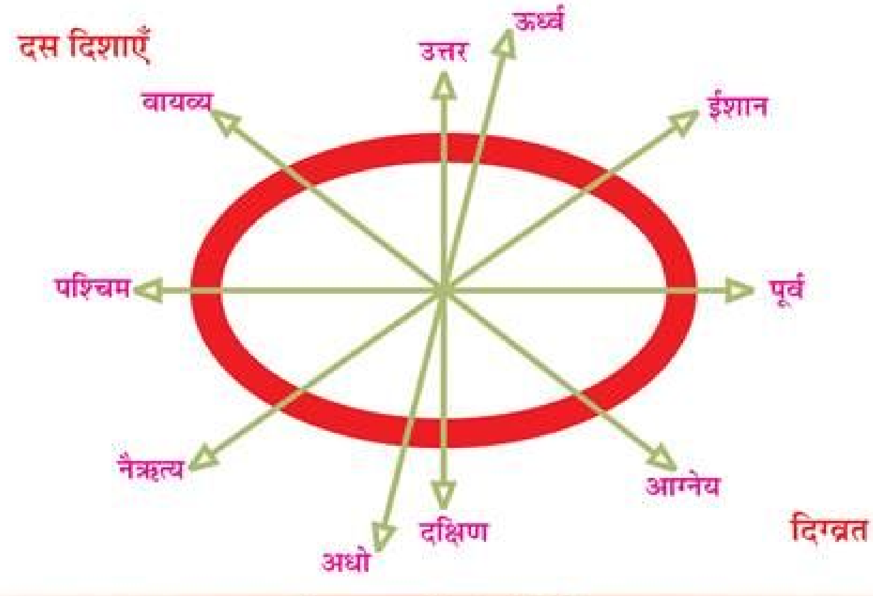

भावार्थ – श्रावक के शेष अणुव्रतों का स्वरूप इस प्रकार है —

३. अचौर्य अणुव्रत – जन-समुदाय के लिए जहाँ रोक न हो तथा किसी विशेष व्यक्ति का स्वामित्व न हो, वहाँ के पानी तथा मिट्टी के अतिरिक्त, जिस पर अपना स्वामित्व न हो — ऐसी प्रत्येक परायी वस्तु, उसके स्वामी के दिये बिना न लेना तथा उठाकर दूसरे को न देना, अचौर्य अणुव्रत है।

४. ब्रह्मचर्य अणुव्रत – अपनी विवाहित स्त्री के सिवा, अन्य सर्व स्त्रियों से विरक्त रहना, ब्रह्मचर्य अणुव्रत है। पुरुष को चाहिए कि अन्य स्त्रियों को माता, बहिन और पुत्री के समान समझे तथा स्त्री को चाहिए कि अपने पति के अतिरिक्त अन्य सभी पुरुषों को पिता, भाई और पुत्र के समान समझे।

५. परिग्रहपरिमाण अणुव्रत – अपनी शक्ति और योग्यता का ध्यान रखकर, जीवनपर्यन्त के लिए धन-धान्यादि बाह्य परिग्रह का परिमाण / मर्यादा बाँधकर, उससे अधिक की इच्छा न करना, परिग्रहपरिमाण अणुव्रत हैं।

ये पाँच (अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रहपरिमाण) अणुव्रत हैं। हिंसादिक को लोक में भी पाप माना जाता है, उनका इन व्रतों में एक देश (स्थूलरूप से) त्याग किया गया है; इस कारण ये अणुव्रत कहलाते हैं।

यहाँ यह तथ्य ध्यान देने योग्य है कि जिस जीव को निश्चयसम्यग्दर्शन -ज्ञानपूर्वक, पहले दो कषायों का अभाव हुआ हो, उस जीव को ही सच्चे अणुव्रत होते हैं। जिसे निश्चयसम्यग्दर्शन न हो, उसके व्रतों को सर्वज्ञदेव ने बालव्रत (अज्ञानव्रत) की श्रेणी में रखा है।

अब, श्रावक के तीन गुणव्रतों में से दिग्व्रत का स्वरूप कहते हैं —

१. दिग्व्रत – दशों दिशाओं में आने-जाने की मर्यादा निश्चित करके, जीवनपर्यन्त उसका उल्लंघन नहीं करना, दिग्व्रत है। इसमें दिशाओं की मर्यादा निश्चित की जाती है; इसलिए इसे दिग्व्रत कहा जाता है।

छन्द - १२

श्रावकदशा में होनेवाले शेष गुणव्रतों का स्वरूप यहाँ दर्शाया जा रहा है –

ताहू में फिरि ग्राम गली, गृह वाग वजारा।
गमनागमन प्रमान ठानि, अनि सकल निवारा॥
काहू कैं धन हानि, किसू जय हार न चिंत्तैं।
देइ न सो उपदेश, होय अघ वनिज कृषी तें॥

अन्वयार्थ – **(फिरि)** फिर **(ताहू में)** उसमें किन्हीं प्रसिद्ध **(ग्राम)** गाँव, **(गली)** गली, **(गृह)** मकान, **(वाग)** उद्यान, तथा **(वजारा)** बाजार तक **(गमनागमन)** जाने–आने का **(प्रमाण)** प्रमाण **(ठानि)** रखकर, **(अनि)** अन्य **(सकल)** सबका **(निवारा)** त्याग करना, देशव्रत अथवा देशावकाशिकव्रत है।

धन हानि

कृषि कार्य

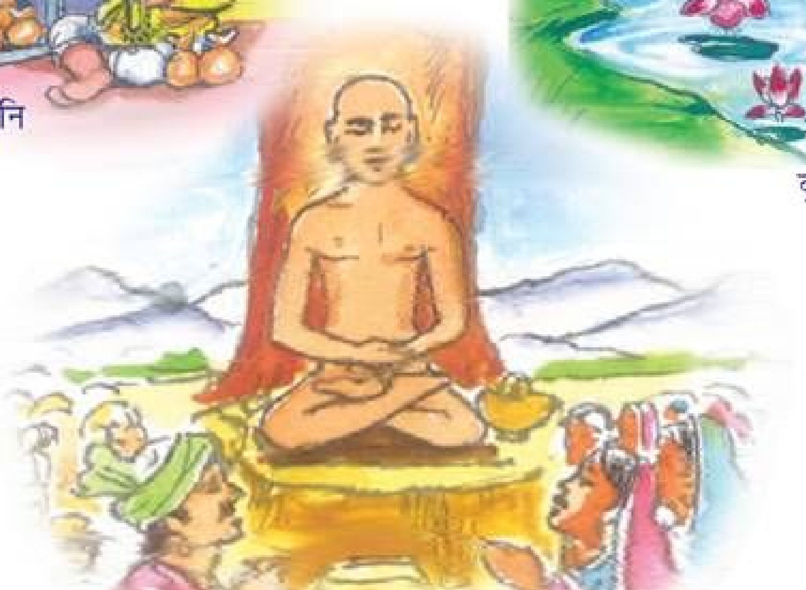

(काहू कैं) किसी के **(धन हानि)** धन के नाश का, **(किसी)** किसी की **(जय)** विजय का अथवा **(हार)** किसी की हार का **(न चिंत्तैं)** विचार न करना, अपध्यान-अनर्थदण्डत्यागव्रत है। **(वनिज)** व्यापार और **(कृषी तें)** खेती से **(अघ)** पाप **(होय)** होता है; इसलिए **(सो)** उसका **(उपदेश)** उपदेश **(न देइ)** न देना, **पापोपदेश-अनर्थदण्डत्यागव्रत** है।

भावार्थ - यहाँ श्रावक के तीन गुणव्रतों का वर्णन है।

२. देशव्रत - पूर्व छन्द में वर्णित दिग्व्रत में जीवनपर्यन्त की गयी जाने-आने के क्षेत्र की मर्यादा में भी, घड़ी, घण्टा, दिन, महीना आदि काल के नियम से किसी प्रसिद्ध ग्राम, मार्ग, मकान तथा बाजार तक जाने-आने की मर्यादा करके, उससे आगे की सीमा में न जाना, देशव्रत कहलाता है।

३. अनर्थदण्डत्यागव्रत - बिना प्रयोजन मन-वचन-काय की अशुभ प्रवृत्तियों का त्याग, अनर्थदण्ड त्यागव्रत कहलाता है।

अनर्थदण्डत्यागव्रत के पाँच मुख्य प्रकारों का वर्णन इस प्रकार है —

१. किसी के धन का नाश, पराजय अथवा विजय आदि का विचार न करना, **अपध्यान-अनर्थदण्डत्यागव्रत** है।

२. हिंसारूप पापजनक व्यापार तथा खेती आदि का उपदेश न देना, **पापोपदेश-अनर्थदण्डत्यागव्रत** है....।

चौथी ढाल

छन्द - १३

श्रावकदशा में अनावश्यक पापप्रवृत्तिरूप अनर्थदण्ड नहीं होते। इन अनर्थदण्डों का स्वरूप जानना चाहिए –

करि प्रमाद जल भूमि, वृक्ष पावक न विराधै।
असि धन हल हिंसोपकरण, नहि दे जस लाधै॥
राग-द्वेष करतार, कथा कबहूं न सुनीजै।
औरहु अनरथ दंड, हेत अघ तिनें न कीजै॥

अन्वयार्थ - (**प्रमाद करि**) प्रमाद से, अर्थात् बिना प्रयोजन (**जल**) जलकायिक, (**भूमि**) पृथ्वीकायिक, (**वृक्ष**) वनस्पतिकायिक, (**पावक**) अग्निकायिक और वायुकायिक जीवों का (**न विराधै**) घात न करना, **प्रमादचर्या-अनर्थदण्डत्यागव्रत** कहलाता है। (**असि**) तलवार, (**धनु**) धनुष, (**हल**) हल आदि (**हिंसोपकरण**) हिंसा होने में कारणभूत पदार्थों को (**दे**) देकर (**जश**) यश (**नहिं लाधै**) न लेना, **हिंसादान-अनर्थदण्डत्यागव्रत** कहलाता है। (**राग-द्वेष -करतार**) राग और द्वेष उत्पन्न करनेवाली (**कथा**) कथाएँ (**कबहूं**) कभी (**न**

प्रमादचर्या

सुनीजै) नहीं सुनना, **दुःश्रुति-अनर्थदण्डत्यागव्रत** है। **(औरहु)** तथा अन्य भी **(हेत अघ)** पाप के कारण **(अनरथ दंड)** अनर्थदण्ड हैं, **(तिनें)** उन्हें भी **(न कीजै)** नहीं करना चाहिए।

भावार्थ - .... **३.** प्रमादवश होकर पानी ढोलना, जमीन खोदना, वृक्ष काटना, आग लगाना-इत्यादि का त्याग करना; अर्थात्, पाँच स्थावरकाय के जीवों की हिंसा नहीं करना, **प्रमादचर्या-अनर्थदण्डत्यागव्रत** है।

हिंसा के उपकरण

४. यशप्राप्ति के लिए, किसी के माँगने पर हिंसा के कारणभूत हथियार न देना, **हिंसादान-अनर्थदण्डत्यागव्रत** है।

५. राग-द्वेष उत्पन्न करनेवाली विकथा और उपन्यास या शृङ्गारिक कथाओं के श्रवण का

(दुःश्रुति-अनर्थदण्डत्यागव्रत)

त्याग करना, **दुःश्रुति-अनर्थदण्डत्यागव्रत** है।

यद्यपि अनर्थदण्ड अनेक प्रकार के होते हैं, तथापि स्थूलता की अपेक्षा अथवा

छन्द - १४

अब, मुनिधर्म की शिक्षारूप श्रावक को शिक्षाव्रतों का स्वरूप वर्णन करते हैं –

धरि उर समताभाव, सदा सामायक करियै।
पर्व चतुष्टय माहि, पाप तजि प्रोषध धरियै॥
भोग और उपभोग, नियम धरि ममत निवारै।
मुनि कौं भोजन देय फेरि, निज करै अहारै[१]॥

अन्वयार्थ – (**उर**) मन में (**समताभाव**) निर्विकल्पता; अर्थात्, शल्य के अभाव को (**धरि**) धारण करके (**सदा**) हमेशा (**सामायक**) सामायिक (**करियै**) करना, **सामायिक शिक्षाव्रत** है।(**पर्व चतुष्ट माहि**) पर्व के चार दिनों में (**पाप तजि**) पापकार्यों को छोड़कर (**प्रोषध**) प्रोषधोपवास (**धरियै**) करना, **प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत** है; (**भोग**) एक बार भोगा जा सके, ऐसी वस्तुओं का

सामायिक

प्रोषधोपवास

१. मूलप्रति में लिखने से छूट गया है।

(और) तथा **(उपभोग)** बारम्बार भोगा जा सके, ऐसी वस्तुओं का **(नियम धरि)** परिमाण करके / मर्यादा रखकर **(ममत)** मोह **(निवारै)** छोड़ देना, **भोगोपभोगपरिमाण शिक्षाव्रत** है। **(मुनि कौं)** वीतरागी मुनिराज को **(भोजन)** आहार **(देय)** देकर, **(फेरि)** फिर **(निज करै अहारै)** स्वयं भोजन करना, **अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत** है।

अतिथिसंविभाग

भावार्थ – यहाँ श्रावक के चार शिक्षाव्रतों का वर्णन किया गया है —

१. स्वोन्मुखता द्वारा अपने परिणामों को स्थिर करके प्रतिदिन विधिपूर्वक सामायिक करना, **सामायिक शिक्षाव्रत** है। **२.** प्रत्येक अष्टमी तथा चतुर्दशी के दिन कषाय और व्यापारादि कार्यों को छोड़कर (धर्मध्यानपूर्वक) उपवास करना, **प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत** है। **३.** परिग्रहपरिमाण-अणुव्रत में निश्चित की हुई भोगोपभोग की वस्तुओं में जीवनपर्यन्त के लिए अथवा किसी निश्चित समय के लिए नियम करना, **भोगोपभोगपरिमाण शिक्षाव्रत** है। **४.** निर्ग्रन्थ मुनि आदि सत्पात्रों को आहार देने के पश्चात् स्वयं भोजन करना, **अतिथिसंविभाग शिक्षाव्रत** है।

छन्द - १५

चौथी ढाल के अन्त में पण्डितप्रवर श्री दौलतरामजी, इन व्रतों का फल प्ररुपित करते हुए कहते हैं –

वारह व्रत के अतीचार, पन पन न लगावै।
मरण-समय सन्यास धारि, तसु दोष नसावै॥
यौं श्रावक व्रत पालि, स्वर्ग सोलम उपजावै।
तहाँ तें चय नर जन्म पाय, मुनि ह्वै सिव पावै॥

अन्वयार्थ - जो जीव, (**वारह व्रत के**) इन बारह व्रतों के (**पन-पन**) पाँच-पाँच (**अतीचार**) अतिचारों को (**न लगावै**) नहीं लगाता और (**मरण-समय**) मृत्यु-काल में (**सन्यास**) समाधि (**धारि**) धारण करके (**तसु**) उनके (**दोष**) दोषों को (**नसावै**) दूर करता है, वह (**श्रावक**) श्रावक (**यौं**) इस प्रकार

मरण समय समाधि

(व्रत पालि) व्रतों का पालन करके **(सोलम)** सोलहवें **(स्वर्ग)** स्वर्ग तक **(उपजावै)** उत्पन्न होता है, और **(तहाँ तें)** वहाँ से **(चय)** मृत्यु प्राप्त करके **(नर जन्म)** मनुष्यपर्याय **(पाय)** पाकर, **(मुलि)** मुनि **(ह्वै)** होकर **(सिव)** मोक्ष **(पावै)** प्राप्त करता है।

भावार्थ - जो जीव, ऊपर कहे हुए बारह व्रतों का विधिपूर्वक जीवनपर्यन्त पालन करते हुए, उनके पाँच-पाँच अतिचारों को भी टालता है और मृत्युकाल में पूर्वोपार्जित दोषों का नाश करने के लिए विधिपूर्वक समाधिमरण (सल्लेखना) धारण करके, उसके पाँच अतिचारों को भी दूर करता है, वह आयु पूर्ण होने पर, मृत्यु प्राप्त करके सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होता है। पुनः देवायु पूर्ण होने पर मनुष्यभव पाकर, मुनिपद धारण करके, मोक्ष; अर्थात्, पूर्ण शुद्धता प्राप्त करता है।

सम्यक्चारित्र की भूमिका में रहनेवाले राग के कारण जीव, स्वर्ग में देवपद प्राप्त करता है क्योंकि धर्म का फल संसार की गति नहीं है किन्तु संवर-निर्जरारूप शुद्धभाव है और धर्म की पूर्णता, सो मोक्ष है।

अणुव्रतादि के पाँच-पाँच अतिचारों का वर्णन श्रीरत्नकरण्डश्रावकाचार आदि चरणानुयोग के ग्रन्थों से जानना चाहिए।

चौथी ढाल का सारांश

इस ढाल में सम्यग्ज्ञान एवं श्रावक को होनेवाले देशचारित्र का वर्णन किया गया है।

सम्यग्दर्शन के अभाव में होनेवाले ज्ञान को कुज्ञान; अर्थात्, मिथ्याज्ञान कहा जाता है। सम्यग्दर्शन होने के पश्चात् वही ज्ञान, सम्यग्ज्ञान कहलाता है। इस प्रकार यद्यपि सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान साथ ही होते हैं, तथापि उनके लक्षण भिन्न-भिन्न हैं और कारण-कार्यभाव का भी अन्तर है; अतः सम्यग्दर्शन को सम्यग्ज्ञान का निमित्तकारण कहा जाता है।

स्वसन्मुखतापूर्वक स्व-पर को यथावत् जाननेवाला ज्ञान, सम्यग्ज्ञान कहलाता है; उसकी वृद्धि होने पर अन्त में केवलज्ञान प्राप्त होता है। सम्यग्ज्ञान के अतिरिक्त अन्य कोई सुखदायक नहीं है। सम्यग्ज्ञान ही जन्म, जरा तथा मृत्यु का नाशक है। मिथ्यादृष्टि जीव के सम्यग्ज्ञान के बिना करोड़ों जन्म तक तप करने से भी जितने कर्मों का नाश नहीं होता, उतने कर्म सम्यग्ज्ञानी जीव के त्रिगुप्ति से क्षणमात्र में नष्ट हो जाते हैं। पूर्व काल में जो जीव, मोक्ष गये हैं; वर्तमान में महाविदेहक्षेत्र से जा रहे हैं, और भविष्य में जाएँगे, यह सब सम्यग्ज्ञान का ही प्रभाव / महिमा है। जिस प्रकार मूसलाधार वर्षा, वन की भयङ्कर अग्नि को क्षणमात्र में बुझा देती है; उसी प्रकार यह सम्यग्ज्ञान, विषय-वासना को क्षणमात्र में नष्ट कर देता है।

पुण्य-पाप के भाव, जीव के चारित्रगुण की विकारी / अशुद्ध पर्यायें हैं; वे रहट के घड़ों की भाँति उल्टी-सीधी होती रहती है; उन पुण्य-पाप के फल में संयोग प्राप्त होते हैं, उनमें हर्ष-शोक करना मूर्खता है। प्रयोजनभूत बात तो यह है कि पुण्य-पाप, व्यवहार और निमित्त की रुचि छोड़कर, स्वान्मुख होकर सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिए।

आत्मा और परवस्तुओं का भेदविज्ञान होने पर सम्यग्ज्ञान होता है; इसलिए संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय नामक दोषों का त्याग करके, तत्त्वाभ्यास द्वारा सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना चाहिए, क्योंकि जिस प्रकार समुद्र में डूबा हुआ रत्न पुनः हाथ नहीं आता; उसी प्रकार मनुष्यपर्याय, उत्तम श्रावककुल, और जिनवाणी का सुनना

आदि सुयोग बारम्बार प्राप्त नहीं होते। ऐसा दुर्लभ सुयोग प्राप्त होने पर भी सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं करना, मूर्खता है।

सम्यग्ज्ञान प्राप्त करके फिर सम्यक्चारित्र प्रगट करना चाहिए, क्योंकि –

न हि सम्यग्व्यपदेशं चारित्रमज्ञानपूर्वकं लभते।
ज्ञानानन्तरमुक्तं, चारित्राराधनं तस्मात्॥

अर्थात्, अज्ञानपूर्वक चारित्र, सम्यक् नहीं कहलाता; इसलिए चारित्र का आराधन, ज्ञान होने के पश्चात् कहा है। (- पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, गाथा-३८ व अर्थ)

उस सम्यक्चारित्र की भूमिका में कुछ राग भी रहता है, वह श्रावक को अणुव्रत और मुनि को पञ्च महाव्रतरूप होता है। उस राग को सम्यग्दृष्टि, धर्म नहीं; पुण्य मानते हैं। श्रावक की भूमिका में अवशेष राग की परिणति पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत के रूप में होती है। इन सभी का विस्तृत विवेचन श्रावकाचार प्ररूपक ग्रन्थों से जानना चाहिए।

जो श्रावक, निरतिचार समाधिमरण धारण करता है, वह समतापूर्वक आयु पूर्ण होने से योग्यतानुसार सोलहवें स्वर्ग तक उत्पन्न होता है और वहाँ से आयु पूर्ण होने पर मनुष्यपर्याय प्राप्त करता है, फिर मुनिधर्म अङ्गीकार करके मोक्ष प्राप्त करता है; इसलिए सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक चारित्र पालन प्रत्येक आत्मार्थी जीव का कर्तव्य है।

वीतरागभावरूप निश्चयसम्यक्चारित्र ही सच्चा चारित्र है – ऐसी श्रद्धा करना चाहिए। उस भूमिका में उत्पन्न होनेवाला श्रावक के अणुव्रतादि एवं मुनि के महाव्रतादिरूप विकल्प, सच्चा चारित्र नहीं है, अपितु चारित्र में होनेवाला दोष है किन्तु उस भूमिका में वैसा राग आए बिना नहीं रहता। सम्यक्चारित्र में उस प्रकार का राग निमित्त होता है, उसे सहचर मानकर व्यवहारसम्यक्चारित्र कहा जाता है परन्तु उस व्यवहारसम्यक्चारित्र को सच्चा सम्यक्चारित्र मानने की श्रद्धा छोड़ देनी चाहिए।

इस प्रकार अध्यात्मप्रेमी कविवर पण्डित दौलतरामजी द्वारा रचित छहढाला में मुक्तिमार्ग का दूसरा चरण 'सम्यग्ज्ञान एवं देशचारित्र' का निरूपण करनेवाली चौथी ढाल पूर्ण हुई।

पाँचवीं ढाल

वैराग्यजननी

बारह भावनाएँ

छन्द - १

वैराग्यजननी बारह भावनाओं के चिन्तवन की प्रेरणा देते हुए, कविवर पण्डित दौलतरामजी कहते हैं –

॥ चाल छन्द ॥

मुनि सकलव्रती बडभागी, भव भोगन तें वैरागी।
वैराग उपावन मांही, चिंतवौ अनुप्रेक्षा भाई॥

अन्वयार्थ - (**सकलव्रती**) महाव्रतों के धारक (**मुनि**) भावलिङ्गी मुनिराज, (**बडभागी**) महान पुरुषार्थी हैं क्योंकि वे (**भव-भोगन तें**) संसार और भोगों से (**वैरागी**) विरक्त हैं। (**भाई**) हे भव्य जीव! (**वैराग्य**) वीतरागता को (**उपावन**) उत्पन्न करने (**मांही**) में कारणभूत इन (**अनुप्रेक्षा**) बारह भावनाओं का (**चिंतवौ**) चिन्तवन करो।

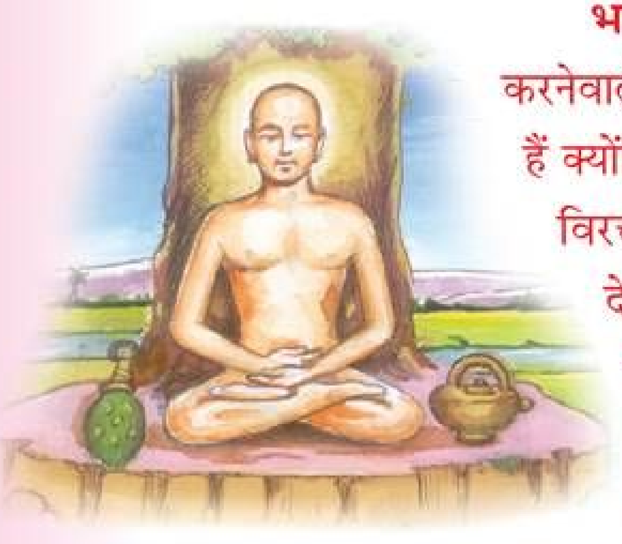

भावार्थ - पाँच महाव्रतों को धारण करनेवाले भावलिङ्गी मुनिराज, महा-पुरुषार्थवान हैं क्योंकि वे संसार, शरीर और भोगों से अत्यन्त विरक्त होते हैं। जिस प्रकार माता, पुत्र को जन्म देती है; उसी प्रकार ये बारह भावनाएँ, वैराग्य उत्पन्न करती हैं; इसलिए हे भाई! वैराग्य की उत्पत्ति में जननीसमान इन बारह भावनाओं का चिन्तवन करो।

छन्द - २

अब, दृष्टान्तपूर्वक बारह भावनाओं के चिन्तवन का फल दर्शाया जा रहा है –

इम चिंतत समरस जागै, जिमि ज्वलन पवन के लागे।
जब ही जिय आतम जानै, तब ही जिय शिवसुख ठानै ॥[1]

अन्वयार्थ – (**जिमि**) जिस प्रकार (**पवन के**) वायु के (**लागे**) लगने से (**ज्वलन**) अग्नि भभक उठती है; उसी प्रकार (**इम**) इन बारह भावनाओं का (**चिंतत**) चिन्तवन करने से (**समरस**) समतारस (**जागै**) प्रगट होता है। (**जब ही**) जब (**जिय**) जीव, (**आतम**) आत्मस्वरूप को (**जानै**) जानता है, (**तब ही**) तभी (**जिय**) जीव (**शिवसुख**) मोक्षसुख को (**ठानै**) प्राप्त करता है।

भावार्थ – जिस प्रकार वायु लगने से अग्नि एकदम भभक उठती है; उसी प्रकार इन बारह भावनाओं का बारम्बार चिन्तवन करने से समरस; अर्थात्, वीतरागभाव प्रगट हो जाता है – बढ़ता जाता है। जब यह जीव, आत्मस्वरूप को जानता है, तब पुरुषार्थ बढ़ाकर परपदार्थों से सम्बन्ध छोड़कर, परमानन्दमय स्वस्वरूप में लीन होकर, समतारस का पान करता है और अन्त में मोक्षसुख प्राप्त करता है।

अब, इन बारह भावनाओं का स्वरूप क्रमशः कहा जा रहा है।

1. यह पंक्ति मूल प्रति में छूट गयी है।

छन्द - ३

अनित्य संयोगों में नित्यता के भ्रम से व्यामोहित जीव को, संयोगों की क्षणभङ्गुरता का परिचय देनेवाली यह अनित्यभावना है –

जोवन धन गोधन नारी, हय गय जन आग्याकारी।
इंद्रिय-भोग छिन थाई, सुरधनु चपला चपलाई॥

अन्वयार्थ - (**जोवन**) यौवन, (**धन**) लक्ष्मी, (**गोधन**) गाय-भैंस, (**नारी**) स्त्री, (**हय**) घोड़ा, (**गय**) हाथी, (**जन**) कुटुम्ब, (**आग्याकारी**) आज्ञाकारी नौकर-चाकर तथा (**इंद्रिय-भोग**) पाँच इन्द्रियों के भोग — ये सब (**सुरधनु**) इन्द्रधनुष तथा (**चपला**) बिजली की (**चपलाई**) चञ्चलता-क्षणिकता की भाँति, (**छिन थाई**) क्षणमात्र रहनेवाले हैं।

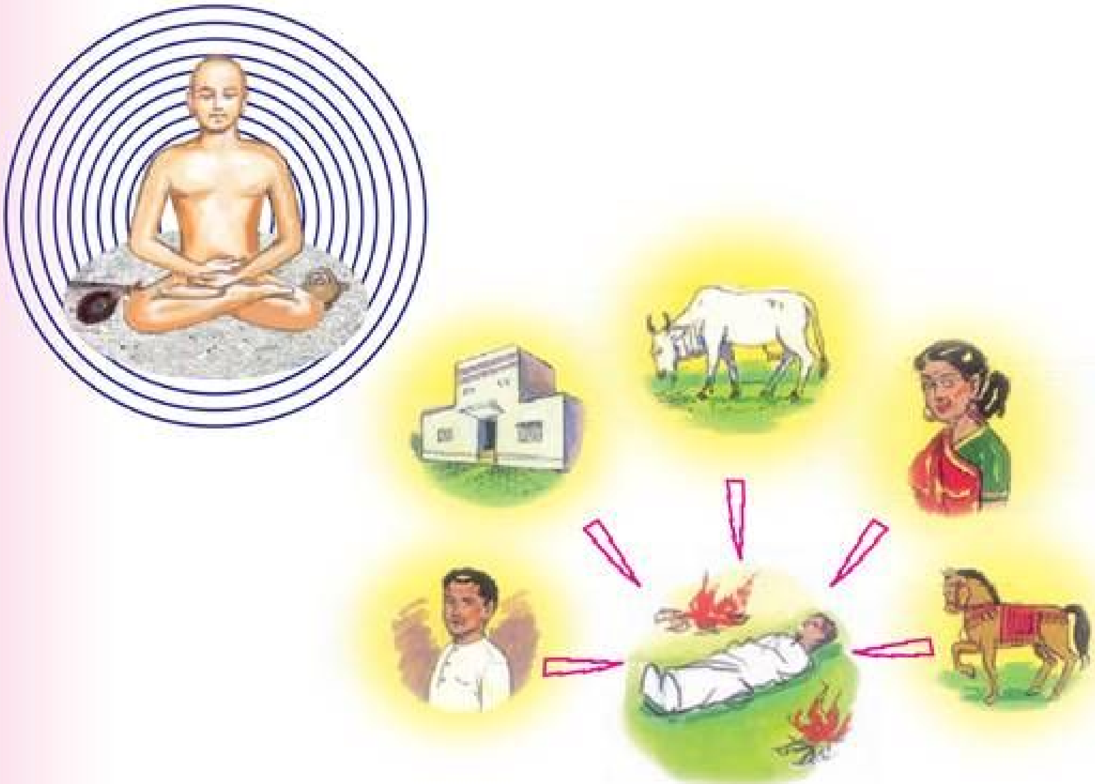

अनित्यभावना

भावार्थ - यौवन, धन-सम्पत्ति, मकान, गाय-भैंस, स्त्री, घोड़ा-हाथी, कुटुम्बीजन, नौकर-चाकर तथा पाँच इन्द्रियों के विषय — ये सर्व वस्तुएँ क्षणिक हैं, अनित्य हैं, नाशवान हैं। जिस प्रकार इन्द्रधनुष और बिजली देखते ही देखते विलीन हो जाती हैं; उसी प्रकार ये यौवनादि कुछ ही काल में विनष्ट हो जाते हैं। ये कोई भी पदार्थ नित्य और स्थायी नहीं हैं किन्तु निज शुद्धात्मा ही नित्य और स्थायी है।

— स्वान्मुखतापूर्वक ऐसा चिन्तवन करके सम्यग्दृष्टि जीव, वीतरागता की वृद्धि करता है, यह अनित्यभावना है। मिथ्यादृष्टि जीव को वास्तव में अनित्यादि एक भी भावना नहीं होती।

पाँचवीं ढाल

संसार और मोक्षमार्ग में जीव अकेला

हे भाई! इस संसार में अथवा मोक्षमार्ग में जीव अकेला अपने सुख अथवा दु:ख को भोगता है। आत्मा का एकत्वस्वभाव, रागादि से भिन्न है। उसकी भावना में अकेला सुख है, उस सुख का वेदन जीव स्वयं अपने में अकेला ही करता है और रोगादि के समय पीड़ित हो, मोह से दु:खी होता हो, तब भी स्वयं अकेला ही उस पीड़ा को भोगता है। परिवारजन समीप खड़े-खड़े देखते रहें, परन्तु उस पीड़ा में भागीदार नहीं हो सकते।

देखो, यह शरीर... जो जन्म से मरण तक सदा जीव के साथ एक क्षेत्ररूप रहनेवाला है, वह भी जीव को सुख-दु:ख में साथ नहीं देता। अज्ञानी जीव, जिसके पोषण के लिए जीवन भर पाप करता है, वह शरीर पाप का फल भोगने के लिए नरक में साथ नहीं जाता और जीव, मोक्ष में जाता है तो वहाँ भी शरीर साथ नहीं जा सकता।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

छन्द - ४

इस जगत में मरण से बचाने में कोई शरण नहीं है – इस भाव को दर्शानेवाली अशरणभावना है –

सुर असुर खगाधिप जेते, जो मृग हरि काल दले ते।
मणि मंत्र तंत्र बहु होई, मरते न बचावै कोई॥

अन्वयार्थ - (**सुर असुर खगाधिप**) देवों के इन्द्र, असुरों के इन्द्र और खगेन्द्र, अर्थात् गरुड़; हँस (**जेते**) आदि जितने भी हैं, (**ते**) उन सबका (**जों मृग हरि**) जिस प्रकार हिरन को सिंह मार डालता है; उसी प्रकार (**काल**) मृत्यु (**दले**) नाश करती है। (**मणि**) चिन्तामणि आदि मणिरत्न, (**मंत्र**) बड़े-बड़े रक्षामन्त्र, (**तंत्र**) तन्त्र (**बहु होई**) आदि होने पर भी, (**मरते**) मृत्यु समय (**कोई**) कोई (**न बचावै**) नहीं बचा सकते।

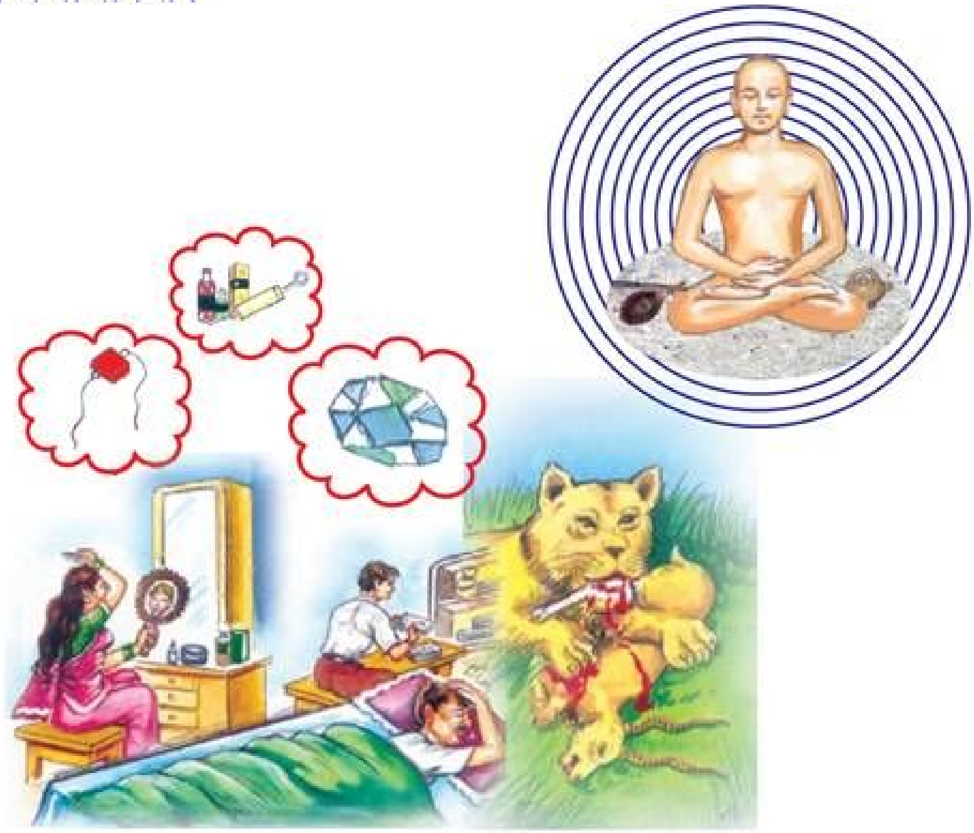

अशरणभावना

भावार्थ – जिस प्रकार हिरण को सिंह मार डालता है; उसी प्रकार इस संसार में जो-जो देवेन्द्र, असुरेन्द्र, खगेन्द्र, अर्थात् पक्षियों के राजा इत्यादि हैं, उन सबका काल, अर्थात् मृत्यु नाश करती है; चिन्तामणि आदि मणि, मन्त्र, जन्त्र और तन्त्रादि कोई भी उन्हें मृत्यु से नहीं बचा सकते।

यहाँ ऐसा समझना कि निज आत्मा ही शरण है; उसके अतिरिक्त अन्य कोई भी शरण नहीं है। कोई जीव, अन्य जीव की रक्षा कर सकने में समर्थ नहीं है; इसलिए पर से रक्षा की आशा करना व्यर्थ है। सर्वत्र-सदैव एक निज आत्मा ही स्वयं को शरण है। आत्मा, निश्चय से मरता ही नहीं, क्योंकि वह अनादि-अनन्त है। **स्वान्मुखतापूर्वक ऐसा चिन्तवन करके सम्यग्दृष्टि जीव, वीतरागता की वृद्धि करता है, यह अशरणभावना है।**

ब्रह्मचारी सदा शुचि

अपवित्र होने से, सात धातुमय होने से, नाकादि नौ छिद्र द्वारों से निरन्तर मल बहने से, स्वरूप से भी अशुचि होने के कारण तथा मूत्र, विष्टा आदि अशुचि-मलों की उत्पत्ति का स्थान होनेमात्र से यह देह अशुचि नहीं है किन्तु यह शरीर, स्वरूप से भी अशुचि है और अशुचि मल आदि का उत्पादक होने से अशुचि है। निश्चय से अपने आप पवित्र होने से यह परम आत्मा ही शुचि या पवित्र है।.... '**ब्रह्मचारी सदा शुचि**' – इस वचन से आत्मा ही में चर्या करनेवाले ब्रह्मचारी-मुनि के ही पवित्रता है। जो जीव, काम-क्रोधादि में लीन हैं, उनके जलस्नान आदि करने पर भी पवित्रता नहीं है।... आत्मारूपी शुद्ध नदी में स्नान करना ही परम पवित्रता का कारण है; लौकिक गंगादि तीर्थ में स्नान करना नहीं।... इस प्रकार अशुचित्व-अनुप्रेक्षा का कथन हुआ।

— *श्रीवृहद्द्रव्यसंग्रह*

छन्द - ५

संसारभावना, संसार की असारता दर्शानेवाली है –

चहु गति दुख जीव भरै है, परवर्तन पंच करै है।
सब विधि संसार असारा, जामें सुख नाहि लगारा॥

अन्वयार्थ - (**जीव**) जीव, (**चहु गति**) चारगति में (**दुख**) दुःख (**भरै है**) भोगता है और (**परवर्तन पंच**) पाँच परावर्तन, अर्थात् पाँच प्रकार से संसार परिभ्रमण (**करै है**) करता है। (**संसार**) संसार, (**सब विधि**) सर्व प्रकार से (**असारा**) साररहित है, (**जामें**) जिसमें (**सुख**) सुख (**लगारा**) लेशमात्र भी (**नाहि**) नहीं है।

भावार्थ – जीव की अशुद्धपर्याय ही संसार है। अज्ञान के कारण जीव, चार गति में दु:ख भोगता है और द्रव्य, क्षेत्र, काल, भव, तथा भावरूप पाँच परावर्तन करता रहता है किन्तु कहीं शान्ति प्राप्त नहीं करता; इसलिए वास्तव में संसारभाव सर्व प्रकार से साररहित है; उसमें किञ्चित्‌मात्र सुख नहीं है।

अज्ञानी जीव के द्वारा जिस प्रकार सुख की कल्पना की जाती है, वैसा सुख का स्वरूप ही नहीं है। जिसमें अज्ञानी जीव, सुख मानता है, वह वास्तव में सुख नहीं है; वह तो परद्रव्य के आलम्बनरूप मलिनभाव होने से आकुलता उत्पन्न करनेवाला दु:खरूप भाव है। **निज आत्मा ही सुखमय है, उसके ध्रुवस्वभाव में संसार है ही नहीं। स्वान्मुखतापूर्वक ऐसा चिन्तवन करके सम्यग्दृष्टि जीव, वीतरागता में वृद्धि करता है, यह संसारभावना है।**

अपने स्वभाव की महिमा को लक्ष्य में ले...!

अरे! जीवों का लक्ष्य बाहर में दौड़ता है परन्तु अन्तर में स्व तरफ लक्ष्य नहीं जाता; इसलिए अपनी महिमा भाषित नहीं होकर, पर की ही महिमा भाषित होती है। सिद्ध भगवन्त कैसे महान्! अरहन्त भगवन् महान्! सन्त-मुनिवर और धर्मात्मा महान्!! इस प्रकार उनकी महिमा गाता है परन्तु हे भाई! जिसकी महिमा तू रात-दिन गाता है, वह तू स्वयं ही है, क्योंकि सन्त कहते हैं कि जैसा हमारा आत्मा, वैसा ही तुम्हारा आत्मा है; इसलिए हे जीव! तू अपने स्वभाव की महिमा को लक्ष्य में ले!

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

छन्द - ६

जीव, अकेला ही सुख-दुःख भोगता है – इस भाव को अभिव्यक्त करनेवाली एकत्वभावना है –

सुभ असुभ कर्मफल जेतें, भोगे जिय ऐके ते ते।[१]
सुत दारा होइ न सीरी, सव स्वारथ के है भीरी॥

अन्वयार्थ - (**जेतें**) जितने (**सुभ-असुभ कर्मफल**) शुभकर्म और अशुभकर्म के फल हैं, (**ते ते**) वे सब (**जिय**) यह जीव (**एकहि**) अकेला ही (**भोगे**) भोगता है; उस कर्मफल के भोग में (**सुत**) पुत्र, (**दारा**) स्त्री आदि (**सीरी**) साथी (**न होइ**) नहीं होते; (**सव**) वे सब (**स्वारथ के**) अपने स्वार्थ के (**भीरी**) सगे (**है**) हैं।

एकत्वभावना (स्त्री-पुत्रादि सभी स्वार्थ के सगे हैं।)

1. मूलप्रति में पाठ अशुद्ध है।

भावार्थ – जीव का सदा अपने स्वरूप से एकत्व और पर से विभक्तपना है; इसलिए वह स्वयं ही अपना हित अथवा अहित कर सकता है, पर का कुछ नहीं कर सकता; अत: जीव जो भी शुभ या अशुभभाव करता है, उनका आकुलतारूपी फल वह स्वयं अकेला ही भोगता है। उसमें अन्य कोई स्त्री, पुत्र, मित्रादि सहायक नहीं हो सकते, क्योंकि वे सब परपदार्थ हैं। वे सब पदार्थ, जीव को ज्ञेयमात्र हैं; इसलिए वे वास्तव में जीव के सगे-सम्बन्धी हैं ही नहीं, तथापि अज्ञानी जीव उन्हें अपना मानकर दु:खी होता है। पर के द्वारा अपना भला-बुरा होना मानकर, पर के साथ कर्तृत्त्व -ममत्व करता है; इस प्रकार वह अपनी भूल से अकेला ही दु:खी होता है।

संसार और मोक्ष में यह जीव, अकेला ही है — ऐसा जानकर सम्यग्दृष्टि जीव, निज शुद्ध आत्मा के साथ ही सदैव अपना एकत्व और पर के साथ विभक्त जानकर, अपनी निश्चयपरिणति द्वारा शुद्ध एकत्व की वृद्धि करता है, यह एकत्वभावना है।

'अब मुझे भव नहीं चाहिए'

देखो! यह जीव, करोड़ों रुपये की आमदनीवाला सेठ तो अनन्त बार हुआ है और अनन्त बार ही घर-घर जाकर भीख माँगकर पेट भरनेवाला भिखारी भी हुआ है; आत्मा के भान बिना पुण्य करके बड़ा देव भी अनन्त बार हुआ है और पाप करके नारकी भी अनन्त बार हुआ है परन्तु अभी भी इसे भवभ्रमण से थकान नहीं लगती है। आचार्यदेव कहते हैं कि भाई! 'अब मुझे भव नहीं चाहिए' - इस प्रकार यदि तुझे भवभ्रमण से थकान लगी हो तो आत्मा की प्रीति करके उसका स्वरूप समझ! इसके अतिरिक्त अन्य कोई शरण नहीं है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

छन्द - ७

पर से पृथक्ता की बोध प्रदाता अन्यत्वभावना है –

जल-पय जौं जिय-तन मेंला, पै भिन्न-भिन्न नहीं भेंला।
सौं प्रघट जुदे धन धामा, क्यों ह्वै इक मिलि सुत रामा॥

अन्वयार्थ - (**जिय-तन**) जीव और शरीर, (**जल-पय जौं**) पानी और दूध की भाँति (**मेंला**) मिले हुए हैं, (**पै**) तथापि (**भेंला**) एक रूप (**नहीं**) नहीं हैं; (**भिन्न-भिन्न**) पृथक्-पृथक् हैं, (**तो**) तो फिर (**प्रघट**) जो बाह्य में प्रगटरूप से (**जुदे**) पृथक् दिखायी देते हैं, ऐसे (**धन**) लक्ष्मी, (**धामा**) मकान, (**सुत**) पुत्र और (**रामा**) स्त्री आदि (**मिलि**) मिलकर (**इक**) एक (**क्यों**) कैसे (**ह्वै**) हो सकते हैं ?

अन्यत्वभावना

भावार्थ – जिस प्रकार दूध और पानी एक आकाशक्षेत्र में मिले हुए होने पर भी, अपने-अपने गुण आदि की अपेक्षा से सर्वथा भिन्न-भिन्न हैं; उसी प्रकार यह जीव और शरीर भी मिले हुए, अर्थात् एकाकार दिखायी देते हैं, तथापि दोनों अपने-अपने स्वरूपादि की अपेक्षा से; अर्थात्, स्वद्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव से सर्वथा पृथक्-पृथक् हैं, तो फिर प्रगटरूप से भिन्न दिखायी देनेवाले मोटर-गाड़ी, धन, मकान, बाग, पुत्र-पुत्री, स्त्री आदि अपने साथ एकमेक कैसे हो सकते हैं ? **तात्पर्य यह है कि स्त्री-पुत्रादि कोई भी परवस्तु अपनी नहीं है — इस प्रकार सर्व पदार्थों को अपने से भिन्न जानकर, स्वसन्मुखतापूर्वक सम्यग्दृष्टि जीव, वीतरागता की वृद्धि करता है, यह अन्यत्वभावना है।**

शक्तिरूप से यह आत्मा ही परमात्मा

पहले तो मनुष्यदेह में सत्समागमपूर्वक आत्मा की रुचि से आत्मा की पहिचान करे कि मैं शुद्ध हूँ, पवित्र हूँ, ज्ञान-आनन्द से भरपूर हूँ; विकारभाव होते हैं, वह दु:ख है; वह मेरा स्वरूप नहीं है; किसी भी संयोग से मुझे सुख-दु:ख नहीं है। इस प्रकार भान करके फिर आत्मा में स्थिरता करने से राग-द्वेष का अभाव होकर मोक्षदशा का सुख प्रगट होता है। मोक्ष होने की योग्यता इस आत्मा में ही भरी है। शक्तिरूप से यह आत्मा ही परमात्मा है। '**अप्पा सो परमप्पा**', अर्थात् आत्मा ही स्वभाव से परमात्मा है। उसका भान करके आत्मा स्वयं ही प्रगटरूप परमात्मा हो जाता है। यह सब इस मनुष्यभव में ही हो सकता है और इसीलिए ज्ञानियों ने मानवदेह को उत्तम कहा है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

छन्द - ८

देह के अत्यन्त मलिनस्वरूप का परिचय करानेवाली अशुचिभावना है –

पल-रुधिर राधि-मल थैली, कीकस वसादि तें मैली।
नव द्वार वहै घिनकारी, यह देह करै किमि यारी॥

अन्वयार्थ – जो (**पल**) माँस, (**रुधिर**) रक्त, (**राधि**) पीव और (**मल**) विष्टा की (**थैली**) थैली है; (**कीकस**) हड्डी, (**वसादि तें**) चरबी आदि से (**मैली**) अपवित्र है और जिसमें (**नव द्वार**) नौ दरवाजों से (**घिनकारी**) घृणा / ग्लानि उत्पन्न करनेवाले मल आदि पदार्थ (**वहै**) बहते हैं, तो (**यह**) इस (**देह**) शरीर में (**यारी**) प्रेम-राग (**किमि**) कैसे (**करे**) किया जा सकता है ?

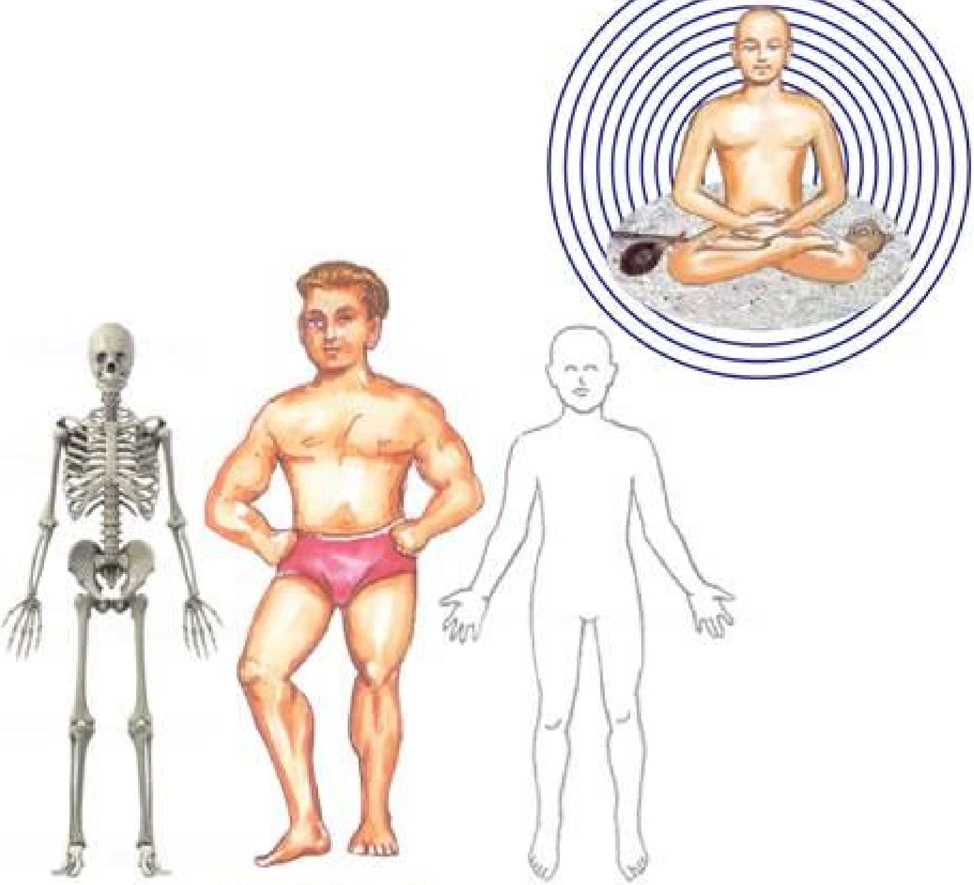

अशुचिभावना

भावार्थ – यह शरीर तो माँस, रक्त, पीव, विष्टा आदि की थैली है और हड्डियाँ, चरबी आदि से भरा होने के कारण अपवित्र है तथा इसके नौ द्वारों से निरन्तर मैल बाहर निकलता रहता है। ऐसे शरीर के प्रति मोह–राग कैसे किया जा सकता है ?

यह शरीर, ऊपर से मक्खी के पंख के समान पतली चमड़ी से मढ़ा हुआ है; इसलिए बाहर से तो सुन्दर लगता है किन्तु यदि उसकी भीतरी स्थिति का विचार किया जाए तो उसमें अति अपवित्र वस्तुएँ भरी हैं; इसलिए उसमें ममत्व, अहङ्कार या राग करना व्यर्थ है।

यहाँ शरीर को मलिन बतलाने का आशय भेदज्ञान के द्वारा शरीर के स्वरूप का ज्ञान कराते हुए, अविनाशी निज आत्मस्वभावरूप पवित्रपद में रुचि कराना है; शरीर के प्रति द्वेषभाव उत्पन्न कराने का आशय नहीं है।

शरीर तो उसके अपने स्वभाव से ही अशुचिमय है और भगवान आत्मा निजस्वभाव से ही शुद्ध एवं सदा शुचिमय, पवित्र चैतन्य पदार्थ है; इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव, निज शुद्ध आत्मा की सन्मुखता द्वारा अपनी पर्याय में शुचिता की; अर्थात्, पवित्रता की वृद्धि करता है, यह अशुचिभावना है।

'भय बिना प्रीति नहीं'

अरे रे! मुझे कहाँ तक यह जन्म–मरण करने हैं। इस भवभ्रमण का कहीं अन्त है या नहीं ? इस प्रकार जब तक चौरासी के अवतार का भय नहीं होता, तब तक आत्मा की प्रीति नहीं होती। 'भय बिना प्रीति नहीं', अर्थात् भव–भ्रमण का भय हुए बिना, आत्मा की प्रीति नहीं होती। सच्ची समझ ही विश्राम है। अनन्त काल से संसार में परिभ्रमण करते हुए कहीं विश्राम प्राप्त नहीं हुआ है। अब सच्ची समझ करना ही आत्मा का विश्राम है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

छन्द - ९

आस्रव का दुःखमयपना दर्शाकर, उससे उदासीनता जगानेवाली आस्रवभावना है –

जो जोगनि की चपलाई, तातें आस्रव ह्वै भाई।
आस्रव दुखकार घनेरा, बुधवंत तिनें निरवेरा॥

अन्वयार्थ – (**भाई**) हे भव्य जीव! (**जोगनि की**) योगों की (**जो**) जो (**चपलाई**) चञ्चलता है, (**तातें**) उससे (**आस्रव**) आस्रव (**ह्वै**) होता है। (**आस्रव**) वह आस्रव (**घनेरा**) अत्यन्त (**दुखकार**) दुःखदायक है; इसलिए (**बुधवंत**) ज्ञानवन्त जीव, (**तिनें**) उसे (**निरवेरा**) दूर कर देते हैं, अर्थात् उसका निवारण कर देते हैं।

आस्रवभावना

छ ह ढा ला

भावार्थ – जीव में शुभाशुभभावरूप विकारी अरूपीदशा होती है, वह भावआस्रव है और उस समय नवीन कर्मयोग्य रजकणों का स्वयं-स्वतः आना; अर्थात्, आत्मा के साथ एक क्षेत्र में आगमन होना, वह द्रव्यआस्रव है, उसमें जीव की अशुद्ध पर्याय निमित्तमात्र है।

पुण्य-पाप भी आस्रव और बन्ध के भेद हैं।

सरागी जीव को होनेवाला दया, दान, भक्ति, पूजा, व्रत आदि का शुभराग, अर्थात् अरूपी शुभभाव, **भावपुण्य** है तथा उस समय नवीन कर्मयोग्य पुण्य रजकणों का स्वयं-स्वतः आना; अर्थात्, आत्मा के साथ एक क्षेत्र में आगमन होना, **द्रव्यपुण्य** है।

हिंसा, असत्य, चोरी इत्यादि अशुभराग, **भावपाप** है तथा उस समय अशुभ / पाप कर्मयोग्य पुद्गलों का आगमन होना, **द्रव्यपाप** है।

परमार्थ से पुण्य-पाप, अर्थात् शुभाशुभभाव, आत्मा को अहितकर हैं तथा वह आत्मा की क्षणिक अशुद्ध अवस्था है। द्रव्यपुण्य-पाप तो परवस्तु है; वह आत्मा का हित-अहित नहीं कर सकता — ऐसा यथार्थ निर्णय प्रत्येक ज्ञानी जीव को होता है। इस प्रकार विचार करके सम्यग्दृष्टि जीव, स्वद्रव्य के अवलम्बन के बल से जितने अंश में आस्रवभाव को दूर करता है, उतने अंश में उसे वीतरागता की वृद्धि होती है, यह आस्रवभावना है।

ऐसा चिन्तवन करना चाहिए

पुव्वत्तासवभेयो णिच्छयणयएण णत्थि जीवस्स।
उदयासवणिम्मूक्कं अप्पाणं चिंतए णिच्चं॥

अर्थात्, पूर्वोक्त आस्रव, मिथ्यात्व आदि भेद, निश्चयनय से जीव के नहीं होते हैं। इसलिए निरन्तर ही आत्मा को द्रव्य और भावरूप दोनों प्रकार के आस्रवों से रहित चिन्तवन करना चाहिए। *- बारस अणुवेक्खा*

छन्द - १०

सुख की उत्पत्ति; अर्थात्, संवर का स्वरूप दर्शाकर, उसके प्रति पुरुषार्थप्रेरक संवरभावना है –

जिन पुन्य-पाप नहीं कीना, आतम अनुभौ चित दीना।
तिनहीं विधि आवत रोकै, संवर गहि सुख अवलोके॥

अन्वयार्थ – (**जिन**) जिन्होंने (**पुन्य**) शुभभाव और (**पाप**) अशुभभाव (**नहीं कीना**) नहीं किये तथा मात्र (**आतम**) आत्मा के (**अनुभौ**) अनुभव में / शुद्ध उपयोग में (**चित**) ज्ञान को (**दीना**) लगाया है, (**तिनहीं**) उन्होंने ही (**आवत**) आते हुए (**विधि**) कर्मों को (**रोकै**) रोका है और (**संवर गहि**) संवर ग्रहण करके (**सुख**) सुख का (**अवलोके**) साक्षात्कार किया है।

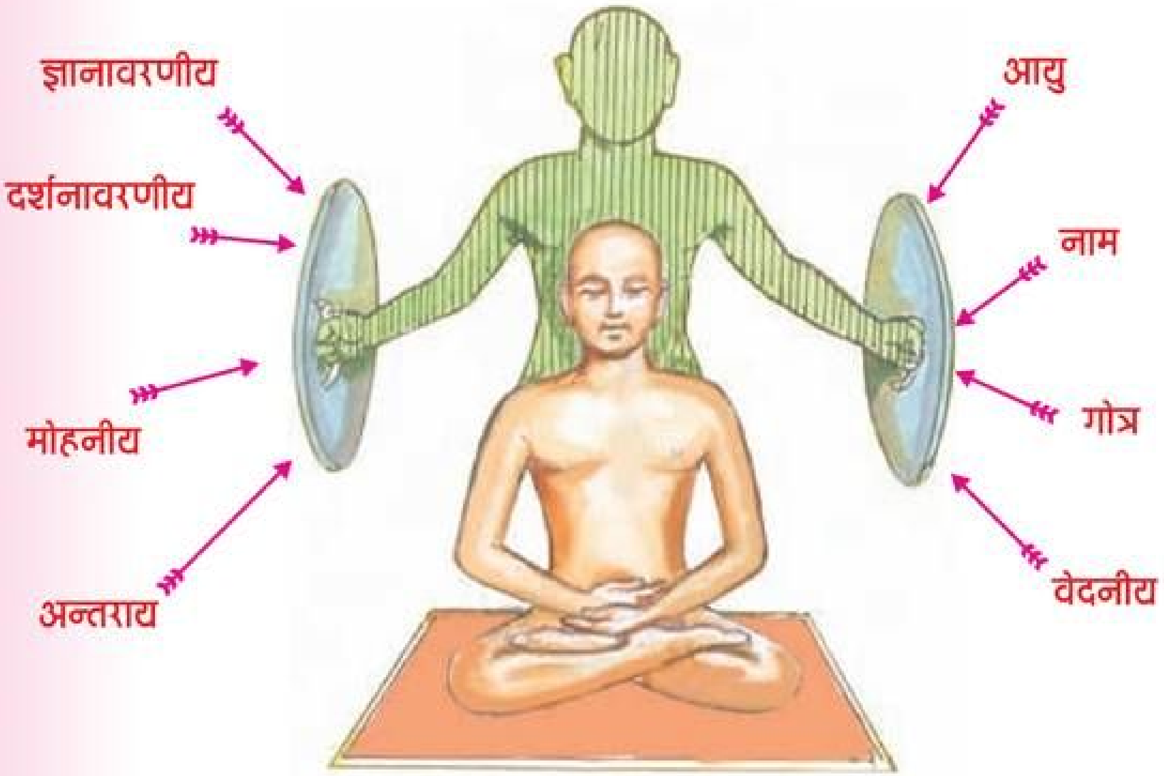

संवरभावना

भावार्थ – आस्रव का रोकना, सो संवर है। सम्यग्दर्शनादि द्वारा मिथ्यात्वादि आस्रव रुकते हैं। शुभोपयोग और अशुभोपयोग, दोनों बन्ध के कारण हैं — ऐसा सम्यग्दृष्टि जीव पहले से ही जानता है। यद्यपि साधक को निचली भूमिका में शुद्धता के साथ अल्प शुभाशुभभाव होते हैं किन्तु वह दोनों को बन्ध का कारण मानता है; **इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव, स्वद्रव्य के आलम्बन द्वारा जितने अंश में शुद्धता प्रगट करता है, उतने अंश में उसे संवर होता है और वह क्रमश: शुद्धता में वृद्धि करते हुए पूर्ण शुद्धता प्राप्त करता है, यह संवरभावना है।**

सद्धर्म बिना, मनुष्य जन्म निष्फल

एक निगोद शरीर में सिद्धों से अनन्तगुणे जीव हैं। इस प्रकार स्थावर जीवों से यह सम्पूर्ण लोक भरा हुआ है। जिस प्रकार बालू के समुद्र में गिरी हुई वज्रसिकता की कणिका का मिलना दुर्लभ है; उसी प्रकार स्थावर जीवों से भरे हुए इस भवसागर में त्रसपर्याय का मिलना अत्यन्त दुर्लभ है।

त्रसपर्याय में विकलत्रयों (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय एवं चतुरिन्द्रियों) की बहुलता है। जिस प्रकार गुणों, अर्थात् अच्छाईयों के समूह में कृतज्ञता का मिलना अतिदुर्लभ है; उसी प्रकार त्रसपर्याय में पञ्चेन्द्रिय पर्याय का प्राप्त होना अत्यन्त कठिन है। पञ्चेन्द्रिय पर्याय में भी पशु, मृग, पक्षी और सर्पादि तिर्यञ्चों की ही बहुलता है। अत: जिस प्रकार चौराहे पर पड़ी हुई रत्नराशि का प्राप्त होना कठिन है; उसी प्रकार मनुष्यपर्याय का प्राप्त होना अति कठिन है।

यदि एक बार मनुष्यपर्याय मिल भी गयी तो फिर उसका दुबारा मिलना तो इतना कठिन है कि जितना जले हुए वृक्ष के परमाणुओं का पुन: उस वृक्ष पर्यायरूप होना कठिन होता है। कदाचित् इसकी प्राप्ति पुन: हो भी जावे तो भी उत्तम देश, उत्तम कुल, स्वस्थ इन्द्रियाँ और स्वस्थ शरीर की प्राप्ति उत्तरोत्तर अत्यन्त दुर्लभ समझना चाहिए। इन सबके मिल जाने पर भी यदि सच्चे धर्म की प्राप्ति न हुई तो जिस प्रकार दृष्टि के बिना मुख व्यर्थ है; उसी प्रकार सद्धर्म बिना मनुष्य जन्म का प्राप्त होना व्यर्थ है। *- श्रीसर्वार्थसिद्धि*

छन्द - ११

मोक्षसुख का दर्शन करानेवाली निर्जराभावना है –

निज काल पाय विधि झरना, तासों निज काज न सरना।
जो तप करि कर्म खिपावै, सोई सिवसुख दरसावै॥

अन्वयार्थ - (**निज काल**) अपनी-अपनी स्थिति (**पाय**) पूर्ण होने पर जो (**विधि**) कर्म (**झरना**) खिर जाते हैं, (**तासों**) उससे (**निज काज**) जीव का धर्मरूपी कार्य (**न सरना**) नहीं होता, किन्तु (**जो**) जो (**तप करि**) आत्मा के शुद्ध प्रतपन द्वारा (**कर्म**) कर्मों का (**खिपावै**) नाश करती है, वह अविपाक अथवा सकाम निर्जरा है। (**सोई**) वही (**सिवसुख**) मोक्ष का सुख (**दरसावै**) दिखलाती है / प्राप्त कराती है।

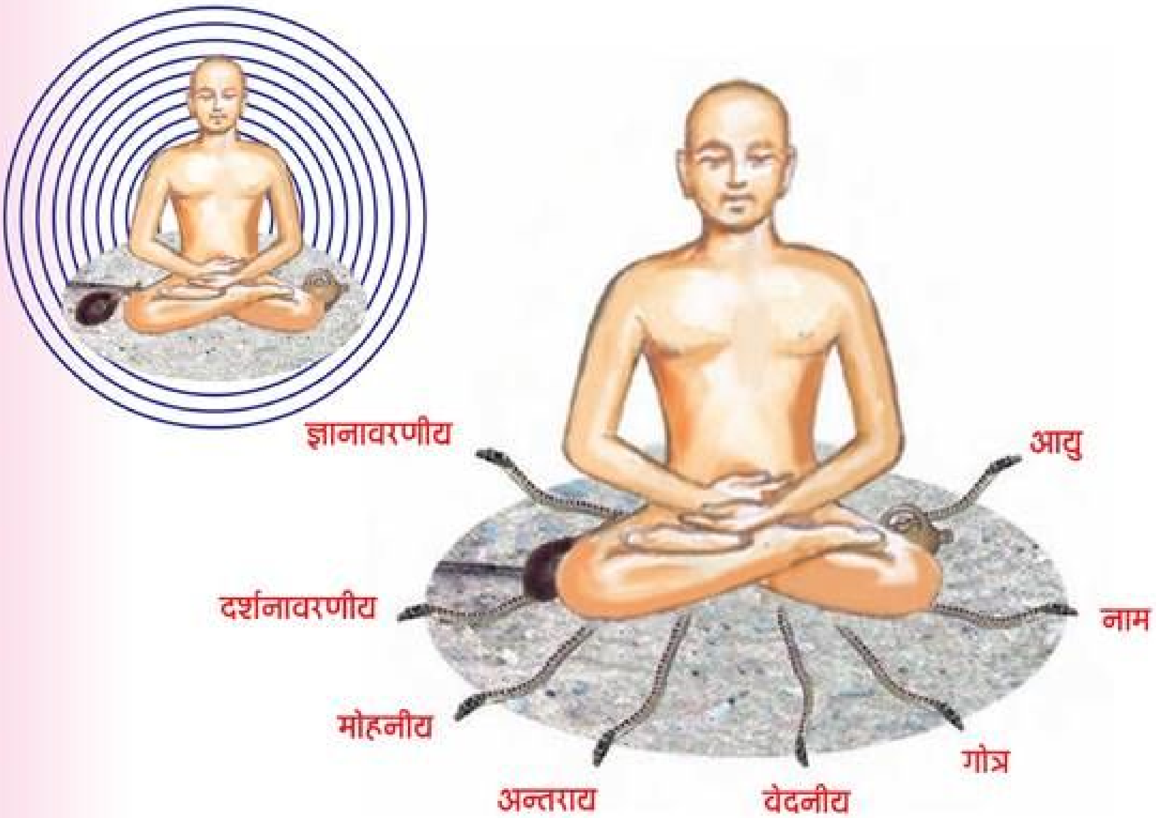

निर्जराभावना

भावार्थ - अपनी-अपनी स्थिति पूर्ण होने पर कर्मों का खिर जाना तो प्रति समय अज्ञानी को भी होता है; वह कहीं शुद्धि का कारण नहीं होता, परन्तु सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र द्वारा; अर्थात्, आत्मा के शुद्ध प्रतपन द्वारा जो कर्म खिर जाते हैं, वह अविपाक अथवा सकामनिर्जरा कहलाती है। तदनुसार जब शुद्धि की वृद्धि होते-होते सम्पूर्ण निर्जरा होती है, तब जीव शिवसुख; अर्थात्, सुख की पूर्णतारूप मोक्ष प्राप्त करता है — **ऐसा जानता हुआ सम्यग्दृष्टि जीव, स्वद्रव्य के आलम्बन द्वारा शुद्धि की वृद्धि करता है, यह निर्जराभावना है।**

आधि-व्याधि-उपाधिरहित दशा ही समाधि

सम्यग्दर्शन और स्वानुभूतिसहित आत्मा के अवलम्बन से अन्तर में विशेष स्वरूपस्थिरता प्रगट होने पर मुनिपना प्रगट होता है। अहा! मुनिराज तो समाधिपरिणत होते हैं, आधि-व्याधि और उपाधि से तीनों काल मुक्त, शान्त और वीतराग समाधिस्वरूप निज ज्ञायकस्वभाव के आश्रय से परिणति में आधि-व्याधि और उपाधिरहित जो निराकुल शान्त और वीतरागदशा हुई, उसे समाधि कहते हैं। मन में होनेवाले सङ्कल्प-विकल्प, वे आधि हैं; शरीर में होनेवाले रोग, वह व्याधि है और स्त्री-पुत्र अथवा व्यापार-धन्धे की जञ्जाल, वह उपाधि है - इन तीनों से रहित आत्मा की जो आनन्दमय दशा, वह समाधि है। मुनिराज ऐसी समाधिरूप परिणत हैं। बाहर से अकेला नग्नपना अथवा पञ्च महाव्रत इत्यादि के शुभपरिणाम, वह कोई परमार्थ मुनिपना नहीं है। जो सहजरूप से समाधिपरिणत हों, वही मुनि कहलाते हैं। *(पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी, वचनामृत-प्रवचन, भाग-4, पृष्ठ 204)*

छन्द - १२

लोक की अनादि-निधनता की प्रतिपादक लोकभावना है –

किनहूं न करौ न धरै कों, षट् द्रव्यमई न हरै को।
सो लोकमाहि बिनु समता, दुख सहै जीव नित भ्रमता॥

अन्वयार्थ – इस लोक को (**किनहूं**) किसी ने (**न करौ**) बनाया नहीं है, (**को**) किसी ने (**न धरै**) टिका नहीं रखा है, और (**कों**) कोई (**न हरै**) इसका नाश नहीं कर सकता। यह लोक (**षट् द्रव्यमई**) छह प्रकार के द्रव्यस्वरूप है – छह द्रव्यों से परिपूर्ण है, (**सो**) ऐसे (**लोकमाहि**) लोक में (**बिनु समता**) वीतरागी समता के बिना (**जीव**) अज्ञानी जीव, (**नित**) सदैव (**भ्रमता**) भटकता हुआ (**दुख सहै**) दुःख सहन करता है।

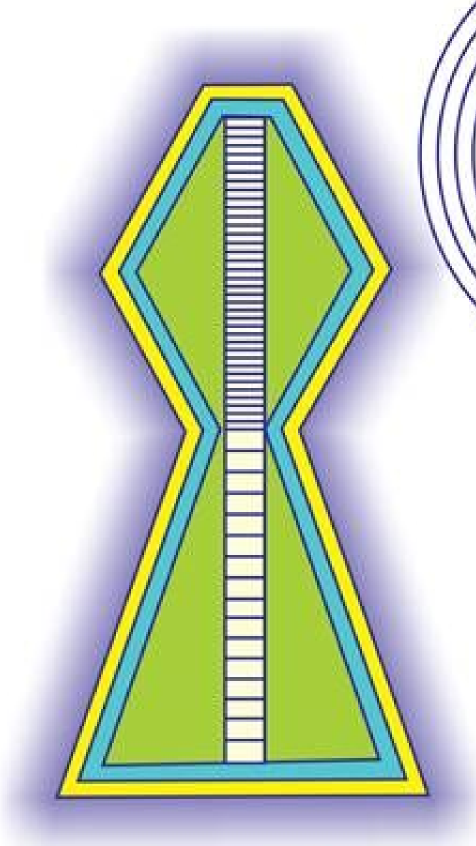

लोकभावना

भावार्थ – ब्रह्मा आदि किसी ने इस लोक को बनाया नहीं है; विष्णु या शेषनाग आदि किसी ने इसे टिका नहीं रखा है, तथा महादेव आदि किसी से यह नष्ट नहीं होता। यह छह द्रव्यमय लोक, स्वयं स्वत: ही अनादि–अनन्त है; छहों द्रव्य नित्य स्व–स्वरूप से स्थित रहकर, निरन्तर अपनी नयी–नयी पर्यायों; अर्थात्, अवस्थाओं से उत्पाद–व्ययरूप परिणमन करते रहते हैं। एक द्रव्य के परिणमन में, दूसरे द्रव्य का रञ्चमात्र भी अधिकार नहीं है।

यह छह द्रव्यस्वरूप लोक, मेरा स्वरूप नहीं है; मुझसे त्रिकाल भिन्न है, मैं उससे भिन्न हूँ; मेरा शाश्वत चैतन्यलोक ही मेरा स्वरूप है — ऐसा धर्मी जीव विचार करता है और स्वान्मुखता द्वारा विषमता मिटाकर, साम्यभाव –वीतरागभाव बढ़ाने का अभ्यास करता है, यह लोकभावना है।

आत्मार्थी जीव का परिणमन

जिस प्रकार तृषातुर को शीतल पानी प्राप्त होते ही वह प्रेमपूर्वक पीता है; इसी प्रकार आत्मा के अर्थी को चैतन्य के शान्तरस का पान मिलते ही अत्यन्त रुचिपूर्वक झेलकर अन्तर में परिणमा देता है। जैसे, कोई एकदम भरी दोपहरी में रेगिस्तान में आ पड़ा हो, प्यास से तड़पते हुए कण्ठगत प्राण हो गया हो, पानी... पानी... की पुकार करता हो और ऐसे समय में शीतल मधुर पानी प्राप्त हो तो कैसी शीघ्रता से पियेगा; इसी प्रकार विकार की आकुलतारूपी भरी दोपहरी में भवारण्य के बीच भ्रमता हुआ जीव, सिक रहा है। वहाँ आत्मार्थी जीव को आत्मा की प्यास लगी है – लगन लगी है, वह आत्मा की शान्ति के लिए छटपटा रहा है। ऐसे जीव को सन्तों की मधुर वाणी द्वारा चैतन्य के शान्तरस का पान प्राप्त होते ही अन्तर में परिणमित हो जाता है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

छन्द - १३

सम्यग्ज्ञान की दुर्लभता दर्शानेवाली बोधिदुर्लभभावना है –

अंतम-ग्रीवक लौ की हद[1], पायौ अनंत वीर्या पद;
पै सम्यक्ज्ञान न लाधौ, दुर्लभ निज में मुनि साधौ॥

अन्वयार्थ – (**अंतम**) अन्तिम / नववें (**ग्रीवक लौ की हद**) ग्रैवेयक तक का (**पद**) पद (**अनंत वीर्या**) अनन्त बार (**पायौ**) प्राप्त किया, (**पै**) तथापि (**सम्यक्ज्ञान**) सम्यग्ज्ञान (**न लाधौ**) प्राप्त न हुआ। (**दुर्लभ**) ऐसे दुर्लभ सम्यग्ज्ञान को (**मुनि**) मुनिराजों ने (**निज में**) अपने आत्मा में (**साधौ**) धारण किया है।

बोधिदुर्लभभावना

द्रव्यलिङ्गी मुनिराज

1. हद - यह शब्द मूलप्रति में छूट गया है।

भावार्थ – मिथ्यादृष्टि जीव, मन्दकषाय के कारण अनेक बार नौवें ग्रैवेयक तक उत्पन्न होकर अहमिन्द्रपद को प्राप्त हुआ, परन्तु उसने एक बार भी सम्यग्ज्ञान प्राप्त नहीं किया, क्योंकि सम्यग्ज्ञान प्राप्त करना अपूर्व है। उसे तो स्वोन्मुखता के अनन्त पुरुषार्थ द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है और ऐसा होने पर विपरीत अभिप्राय आदि दोषों का अभाव होता है।

सम्यग्दर्शन–ज्ञान, आत्मा के आश्रय से ही होते हैं; पुण्य से, शुभराग से, जड़ कर्मादि से नहीं होते। इस जीव ने बाह्य संयोग, चारों गति के लौकिकपद अनन्त बार प्राप्त किये हैं किन्तु निज आत्मा का यथार्थ स्वरूप स्वानुभव द्वारा प्रत्यक्ष करके कभी नहीं समझा; इसलिए उसकी प्राप्ति अपूर्व / दुर्लभ है।

बोधि, अर्थात् निश्चयसम्यग्दर्शन–ज्ञान–चारित्र की एकता; उस बोधि की प्राप्ति प्रत्येक जीव को करना चाहिए। **सम्यग्दृष्टि जीव, स्वसन्मुखतापूर्वक ऐसा चिन्तवन करता है और अपनी बोधि की वृद्धि का बारम्बार अभ्यास करता है, यह बोधिदुर्लभभावना है।**

देखो, आत्मार्थी जीव की पात्रता!

आत्मार्थी जीव को अपना आत्मस्वरूप समझने के लिए इतनी गरज है कि दूसरे लोग मान–अपमान करें, उसके समक्ष देखता भी नहीं है। मुझे तो अपनी आत्मा को रिझाना है, मुझे जगत् को नहीं रिझाना है; इस प्रकार जगत् की अपेक्षा उसे आत्मा प्रिय लगा है, आत्मा से जगत् प्रिय नहीं है – ऐसी आत्मा की लगन के कारण वह जगत् के मान–अपमान को नहीं गिनता है। मुझे स्वयं समझकर अपनी आत्मा का हित साधना है – ऐसा ही लक्ष्य है परन्तु मैं समझकर दूसरों से अधिक हो जाऊँ या मैं समझकर दूसरों को समझा दूँ – ऐसी वृत्ति उसे उत्पन्न नहीं होती। देखो, यह आत्मार्थी जीव की पात्रता!

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

छन्द - १४

अनन्त सुख के कारणभूत धर्म के स्वरूप का परिचय एवं प्रेरणा प्रदायक धर्मभावना है –

जे भाव मोह तें न्यारे, दृग-ज्ञान-व्रतादिक सारे।
ते धर्म जबै जिय धारे, तब ही सुख अचल निहारे॥

अन्वयार्थ - (**मोह तें**) मोह से (**न्यारे**) भिन्न, (**जे**) जो (**सारे**) साररूप, अर्थात् निश्चय (**दृग-ज्ञान-व्रतादिक**) दर्शन-ज्ञान-चारित्ररूप रत्नत्रय आदिक (**भाव**) भाव हैं, वे धर्म हैं।(**जबै**) जब (**जिय**) जीव, (**ते**) उस (**धर्म**) धर्म को (**धारे**) धारण करता है, (**तब ही**) तब ही वह (**सुख अचल**) अचल सुख-मोक्ष (**निहारे**) देखता है, अर्थात् प्राप्त करता है।

भावार्थ - मोह अर्थात् मिथ्यादर्शन / अतत्त्वश्रद्धान; उससे रहित निश्चयसम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र; अर्थात्, रत्नत्रय ही साररूप धर्म है। व्यवहाररत्नत्रय धर्म नहीं है — ऐसा बतलाने के लिए यहाँ छन्द में 'सारे' शब्द का प्रयोग किया है।

जब यह जीव, निश्चय-रत्नत्रयस्वरूप धर्म को स्वाश्रय द्वारा प्रगट करता है, तब ही वह स्थिर, अक्षयसुख; अर्थात्, मोक्ष प्राप्त करता है। **इस प्रकार चिन्तवन करके सम्यग्दृष्टि जीव, बारम्बार स्वान्मुखता का अभ्यास करता है, यह धर्मभावना है।**

धर्मभावना

छन्द - १५

ग्रन्थकार कविवर पण्डित दौलतरामजी, आगामी अन्तिम ढाल में मुनिधर्म का निरूपण करने की प्रतिज्ञा करते हैं –

सो धर्म मुनिन कर धरियै, तिनकी करतूति उचरियै।
ताकौं सुनि कैं भव प्राणी, अपनी अनुभूति पिछानी॥

अन्वयार्थ - (**सो**) ऐसा रत्नत्रय (**धर्म**) धर्म, (**मुनिन कर**) मुनियों के द्वारा (**धरियै**) धारण किया जाता है, (**तिनकी**) उन मुनिराजों की (**करतूति**) क्रियाएँ (**उचरियै**) कही जाती हैं। (**भव प्राणी**) हे भव्य जीवों! (**ताकौं**) उन्हें (**सुनि कैं**) सुनो और (**अपनी**) अपने आत्मा के (**अनुभूति**) अनुभव को (**पिछानी**) पहिचानो।

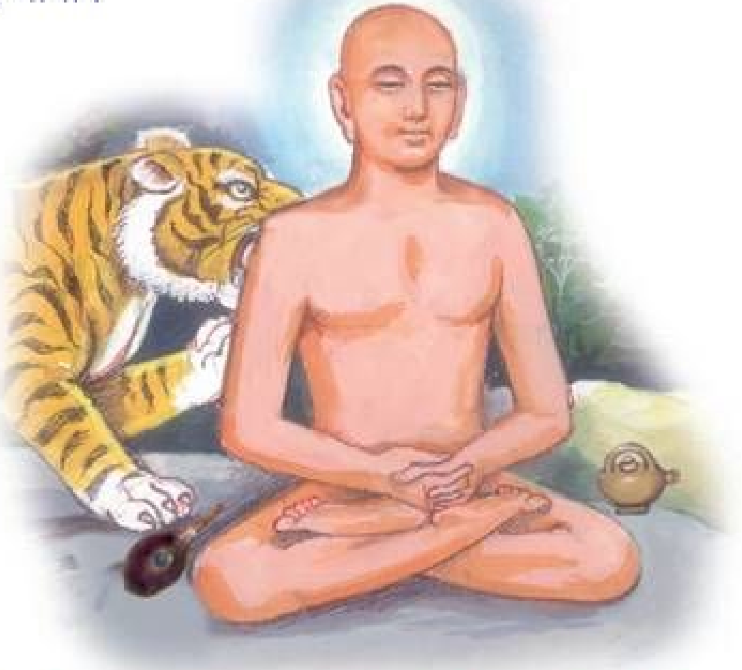

भावार्थ – निश्चयरत्नत्रयस्वरूप धर्म को भावलिङ्गी दिगम्बर जैन मुनि ही अङ्गीकार करते हैं; अन्य कोई नहीं।

अब, आगे उन मुनियों के सकलचारित्र का वर्णन किया जा रहा है। हे भव्यों! उन मुनिवरों का चारित्र सुनो और अपने आत्मा का अनुभव करो।

पाँचवीं ढाल का सारांश

यह बारह भावनाएँ, चारित्रगुण की आंशिक शुद्धपर्याय हैं; इसलिए सम्यग्दृष्टि जीव को ही हो सकती हैं। सम्यक् प्रकार से यह बारह भावनाएँ भाने से वीतरागता की वृद्धि होती है। इन बारह भावनाओं का चिन्तवन मुख्यरूप से तो वीतरागी दिगम्बर जैन मुनिराजों को ही होता है लेकिन गौणरूप से सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा को भी होता है।

जिस प्रकार पवन के लगने से अग्नि भभक उठती है; उसी प्रकार अन्तरङ्ग परिणामों की शुद्धतासहित इन भावनाओं का चिन्तवन करने से समताभाव प्रगट होता है और उससे मोक्षसुख प्रगट होता है। स्वान्मुखतापूर्वक इन भावनाओं से संसार, शरीर और भोगों के प्रति विशेष उपेक्षा होती है और आत्मा के परिणामों की निर्मलता बढ़ती है।

अनित्यादि चिन्तवन द्वारा शरीरादि को बुरा जानकर, अहितकारी मानकर, उनसे उदास होने का नाम अनुप्रेक्षा नहीं है क्योंकि यह तो जिस प्रकार पहले किसी को मित्र मानता था, तब उसके प्रति राग था और फिर उसके अवगुण देखकर उसके प्रति उदासीन हो गया; उसी प्रकार पहले शरीरादि से राग था किन्तु बाद में उनके अनित्यादि अवगुण देखकर उदासीन हो गया, परन्तु ऐसी उदासीनता तो द्वेषरूप है। अपने तथा शरीरादि के स्वरूप को यथावत् जानकर, भ्रम का निवारण करके, उन्हें भला जानकर राग नहीं करना तथा बुरा जानकर द्वेष नहीं करना – ऐसी यथार्थ उदासीनता के लिए अनित्यता आदि का यथार्थ चिन्तवन करना ही सच्ची अनुप्रेक्षा है।

इन बारह भावनाओं का स्वरूप विस्तार से जानने के लिए श्रीकार्तिकियानुप्रेक्षा, ज्ञानार्णव, वारस अणुवेक्खा आदि ग्रन्थों का अवलोकन करना चाहिए।

इस प्रकार अध्यात्मप्रेमी कविवर पण्डित दौलतरामजी द्वारा रचित छहढाला में वैराग्यजननी 'बारह भावनाओं' का निरूपण करनेवाली पाँचवीं ढाल पूर्ण हुई।

छठवीं ढाल

मुक्तिमार्ग का तीसरा चरण

सम्यक्चारित्र और उसका फल

छन्द - १

कविवर पण्डित दौलतरामजी ने इस अन्तिम ढाल में दिगम्बर मुनिराजों के स्वरूप को दर्शाया है। छठवीं ढाल के प्रारम्भ में वे, मुनिराजों के पञ्च महाव्रतों का स्वरूप बताते हैं –

॥ हरिगीत छन्द ॥

षट् काय जीव न हनन तें, सब विधि दरव हिंसा टरी।
रागादि भाव निवार ते, हिंसा न भावित अवतरी॥
जिनकें न लेश मृषा न जल, त्रण हूं बिना दीयौ ग्रहै।
अठदश सहस विधि शील धर, चिद्ब्रह्म में नित रमि रहै॥

अन्वयार्थ – (**षट् काय जीव**) छह काय के जीवों को (**न हनन तें**) घात न करने के भाव से (**सब विधि**) सर्व प्रकार की (**दरव हिंसा**) द्रव्यहिंसा (**टरी**) दूर हो गयी है और (**रागादि भाव**) राग–द्वेष, काम, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि भावों को (**निवार ते**) दूर करने से (**भावित हिंसा**) भावहिंसा भी (**न अवतरी**) नहीं रहती। (**जिनकें**) उन मुनियों को (**लेश**) किञ्चित्

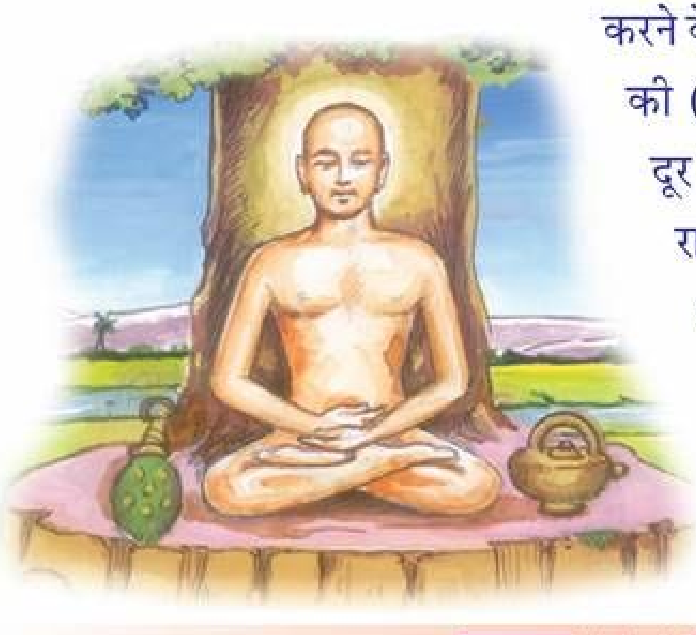

(मृषा) झूठ **(न)** नहीं होता; **(जल)** पानी और **(त्रण)** तिनका **(हूं)** भी **(बिना दीयौ)** दिये बिना **(न ग्रहै)** ग्रहण नहीं करते तथा **(अठदश सहस)** अठारह हजार **(विधि)** प्रकार के **(शील)** शील को-ब्रह्मचर्य को **(धर)** धारण करके **(नित)** सदा **(चिद्ब्रह्म में)** चैतन्यस्वरूप आत्मा में **(रमि रहै)** लीन रहते हैं।

भावार्थ - निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक स्वस्वरूप में निरन्तर एकाग्रतारूप रमण करना ही मुनिपना है। उस भूमिका में बारम्बार निर्विकल्प ध्यानदशारूप सातवाँ गुणस्थान आता ही है। छठवें गुणस्थान के समय उन्हें पञ्च महाव्रत, पाँच समिति, पाँच इन्द्रिय निरोध, छह आवश्यक एवं नग्नता आदि अट्ठाईस मूलगुणों के शुभभाव होते हैं किन्तु वे उसे धर्म नहीं मानते तथा उस काल में भी उन्हें तीन कषाय चौकड़ी के अभावरूप शुद्धपरिणति तो निरन्तर वर्तती ही है।

उनकी भूमिका में पाये जानेवाले अहिंसादि महाव्रतों का स्वरूप इस प्रकार जानना चाहिए —

पृथ्वीकाय आदि पाँच स्थावरकाय तथा एक त्रसकाय, इन छह काय के जीवों का घात करना, द्रव्यहिंसा है और राग, द्वेष, काम, क्रोध, मान इत्यादि भावों की उत्पत्ति होना, भावहिंसा है। वीतरागी मुनिराज को दोनों प्रकार की हिंसा नहीं होती; इसलिए उनको **अहिंसा महाव्रत** होता है।

वे स्थूल अथवा सूक्ष्म - दोनों प्रकार का झूठ नहीं बोलते; इसलिए उनको **सत्य महाव्रत** होता है।

अन्य किसी वस्तु की तो बात ही क्या, किन्तु तिनका और पानी भी दिये बिना ग्रहण नहीं करते; इसलिए उनको **अचौर्य महाव्रत** होता है।

वे शील के अठारह हजार भेदों का सदा पालन करते हैं और चैतन्यरूप आत्मस्वरूप में लीन रहते हैं; इसलिए उनको आत्म-स्थिरतारूप **ब्रह्मचर्य महाव्रत** होता है....।

छन्द - २

प्रस्तुत छन्द में अपरिग्रह महाव्रत और ईर्या व भाषासमिति का स्वरूप प्रस्तुत किया गया है –

अंतर चतुर्दश भेद बाहिर, संग दसधा तें टलै।
परमाद तजि चउकर मही लखि, सुमति ईर्या तें चलै।
जग सुहितकर सब अहित हरि, श्रुत सुखद सब संसै हरै।
भ्रम रोग हर जिनकौ वचन, मुखचंद्र तें अमृत झरैं॥

अन्वयार्थ – वे वीतरागी दिगम्बर जैन मुनि, (**चतुर्दश भेद**) चौदह प्रकार के (**अंतर**) अन्तरङ्ग तथा (**दसधा**) दस प्रकार के (**बाहिर**) बहिरङ्ग (**संग तें**) परिग्रह से (**टलै**) रहित होते हैं। (**परमाद**) प्रमाद, अर्थात् असावधानी (**तजि**) छोड़कर (**चउकर**) चार हाथ (**मही**) जमीन (**लखि**) देखकर (**ईर्या**) ईर्या (**सुमति तें**) समिति से (**चलै**) चलते हैं और (**जिनकौ**) मुनिराजों के (**मुखचंद्र**

तें) मुखरूपी चन्द्र से **(जग सुहितकर)** जगत का सच्चा हित करनेवाला, तथा **(सब अहित हरि)** सर्व अहित का नाश करनेवाला, **(श्रुत सुखद)** सुनने में प्रिय लगनेवाला, **(सब संसै)** समस्त संशयों का **(हरै)** नाशक और **(भ्रम रोग हर)** मिथ्यात्वरूपी रोग को हरनेवाला, **(वचन अमृत)** वचनरूपी अमृत **(झरैं)** झरता है।

छ ह ढा ला

भावार्थ – वीतरागी मुनि चौदह प्रकार के अन्तरङ्ग और दश प्रकार के बहिरङ्ग परिग्रहों से रहित होते हैं; इसलिए उनको **परिग्रहत्याग महाव्रत** होता है।

दिन में सावधानीपूर्वक चार हाथ आगे की भूमि देखकर चलने का विकल्प, **ईर्यासमिति** है।

जिस प्रकार चन्द्रमा से अमृत झरता है; उसी प्रकार मुनि के मुखचन्द्र से जगत का हित करनेवाले, सर्व अहित का नाश करनेवाले, सुनने में सुखकर, सर्व प्रकार की शङ्काओं को दूर करनेवाले और मिथ्यात्व, अर्थात् विपरीतता या सन्देहरूपी रोग का नाश करनेवाले, अमृत वचन निकलते हैं; इस प्रकार मुनिराज का समितिरूप बोलने का विकल्प, **भाषासमिति** है.... ।

मुनिराज की उदासीन परिणति

मुनिवरों की परिणति एकदम अन्तरस्वभाव में ढल गयी है, इसलिए जगत की ओर से वे अत्यन्त उदासीन हो गये हैं। जैसे, बीस वर्ष के इकलौते पुत्र की मृत्यु पर उसकी माता अत्यन्त उदास–उदास हो जाती है; उसी प्रकार जिनका मोह मर गया है – ऐसे मुनिवर, संसार से एकदम उदासीन हो गये हैं। दृष्टान्त में माता की उदासीनता तो मोहकृत है, जबकि मुनिवरों की उदासीनता तो निर्ममत्व के कारण है। माता, पुत्र प्रेम के कारण उदास हुई है तो मुनि, चैतन्य के प्रेम के कारण संसार से उदासीन हुए हैं।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

छन्द - ३

प्रस्तुत छन्द में कविवर ने शेष तीनों समितियों का वर्णन किया है –

छयालीस दोष बिना सकुल, श्रावक तनें घर अशन कौं।
लै तप बढावन हेत, नहि तन पोषते तजि रसन कौं॥
सुच ज्ञान संजम उपकरण, लखि कैं ग्रहैं लखि कैं धरै।
निर्जंतु थान विलोकि तन, मल-मूत्र श्लेषम परिहरै॥

अन्वयार्थ – वीतरागी मुनि, **(सकुल)** उत्तम कुलवाले **(श्रावक तनें घर)** श्रावक के घर, **(रसन कौं)** छहों रस अथवा एक-दो रसों को **(तजि)** छोड़कर **(तन)** शरीर को **(नहि पोषते)** पुष्ट न करते हुए, मात्र **(तप)** तप की **(बढावन हेत)** वृद्धि हेतु, **(छयालीस)** आहार के छियालीस **(दोष बिना)** दोषों को दूर करके, **(अशन कौं)** भोजन को **(लै)** ग्रहण करते हैं। **(सुच)** पवित्रता, **(ज्ञान)** ज्ञान तथा **(संजम)** संयम के **(उपकरण)** साधन, शास्त्र, कमण्डलु तथा पींछी को

एषणासमिति

छठवीं ढाल

(लखि कैं) देखकर **(ग्रहैं)** ग्रहण करते हैं और **(लखि कैं)** देखकर **(धरै)** धरते हैं। मुनिराज **(तन-मल-मूत्र)** शरीर के मल, मूत्र, तथा **(श्लेषम)** श्लेष्म / थूक आदि को **(निर्जन्तु)** जीवरहित **(थान)** स्थान **(विलोकि)** देखकर **(परिहरै)** त्यागते हैं।

भावार्थ – वीतरागी जैन मुनि-साधु, उत्तम कुलवाले श्रावक के घर, आहार के छियालीस दोषों को टालकर तथा अमुक रसों का त्याग करके अथवा स्वाद का राग न करके, शरीर को पुष्ट करने का अभिप्राय न रखकर, मात्र तप की वृद्धि करने के लिए आहार ग्रहण करते हैं; इसलिए उनको **एषणासमिति** होती है।

(आहार के छियालीस दोषों का विशेष वर्णन '**अनगार धर्मामृत**' तथा '**मूलाचार**' आदि शास्त्रों से जानना चाहिए।)

उन दोषों को टालने के हेतु दिगम्बर साधु कभी महीनों तक भोजन न मिलने पर भी किञ्चित् खेद नहीं करते; वे सहज, अनासक्त और निर्मोह-हठरहित होते हैं। कायर मनुष्यों-अज्ञानियों को ऐसा मुनिव्रत कष्टदायक प्रतीत होता है; ज्ञानी को वह सुखमय लगता है।

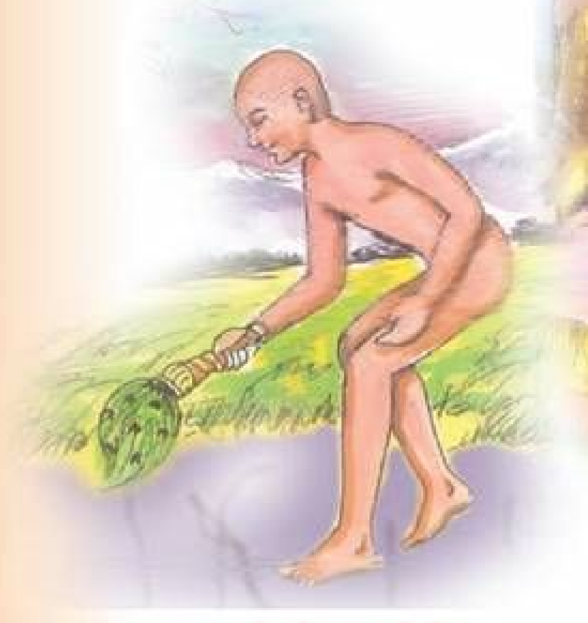

आदान-निक्षेपणसमिति

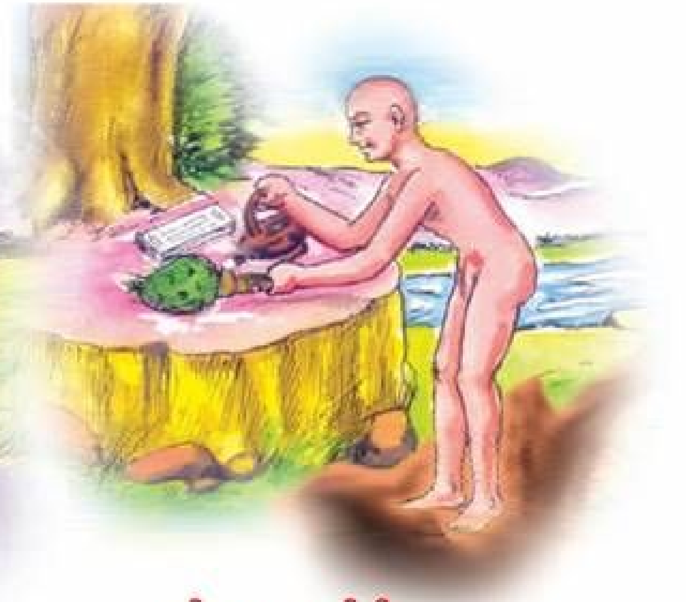

प्रतिष्ठापनसमिति

पवित्रता के साधन कमण्डल को, ज्ञान के साधन शास्त्र को और संयम के साधन पींछी को, जीवों की विराधना बचाने के हेतु, देखभाल कर रखते-उठाते हैं; इसलिए उनको **आदान-निक्षेपणसमिति** होती है।

मल, मूत्र, कफ आदि शरीर के मैल को जीवरहित स्थान देखकर त्यागते हैं; इसलिए उनको **व्युत्सर्ग,** अर्थात् **प्रतिष्ठापनसमिति** होती है।

प्रश्न - अज्ञानी समिति किसे मानते हैं?

उत्तर - अज्ञानी जीव, परजीवों की रक्षा के हेतु यत्नाचार प्रवृत्ति को; अर्थात्, शुभभाव को समिति मानते हैं।

प्रश्न - अज्ञानी की इस मान्यता में क्या दोष है?

उत्तर - हिंसा के अशुभपरिणामों से तो पापबन्ध होता है और यदि रक्षा के शुभपरिणामों से संवर माना जाये तो पुण्यबन्ध का कारण कौन सिद्ध होगा?

तथा मुनि एषणासमिति में आहार के दोषों को टालते हैं, वहाँ रक्षा का प्रयोजन नहीं है; इसलिए रक्षा के हेतु ही समिति नहीं है।

प्रश्न - फिर समिति किस प्रकार होती है?

उत्तर - मुनिराज को प्रमत्तदशा में किञ्चित् राग होने पर गमनादि क्रियाएँ होती हैं, वहाँ उन क्रियाओं में अति आसक्ति के अभाव से प्रमादरूप प्रवृत्ति नहीं होती तथा दूसरे जीवों को दुःखी करके अपने गमनादि प्रयोजन को सिद्ध नहीं करते; इसलिए उनसे स्वयमेव ही दया का पालन होता है - इस प्रकार सच्ची समिति है।

(- श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२६ के आधार से)

मुनिराज : प्रचुर समाधिसुख के प्रति उत्सुक

मुनिराज समाधिपरिणत तो हैं परन्तु सनातन शुद्ध निज ज्ञायकद्रव्य सामान्य का अवलम्बन लेकर विशेष-विशेष समाधिसुख प्राप्त करने के लिये वे अति आतुर हैं। जैसे, पाँच लाख रुपये का स्वामी, पच्चीस लाख कमाने की भावना करता है; इसी प्रकार मुनिराज, निज ज्ञायक के उग्र अवलम्बन से प्रचुर समाधिसुख प्रगट करने के लिये अति उत्सुक हैं।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

छन्द - ४

अब, तीन गुप्ति और पाँच इन्द्रियजय का स्वरूप दर्शाते हैं –

सम्यक् प्रकार निरोध मन-वच-काय, आतम ध्यावते।
तन सुथिर मुद्रा देखि मृगगण, उपल खाज खुजावते॥
रस-रूप-गंध तथा फरस, अर शब्द सुभ असुहावनें।
तिनमें न राग विरोध, पंचेंद्री जयन पद पावने॥

अन्वयार्थ - वीतरागी मुनि, (**मन-वच-काय**) मन-वचन-काय का (**सम्यक् प्रकार**) भली-भाँति (**निरोध**) निरोध करके जब (**आतम**) अपने आत्मा का (**ध्यावते**) ध्यान करते हैं, तब (**तन**) उन मुनियों के शरीर की (**सुथिर**) अचल-शान्त (**मुद्रा**) मुद्रा (**देखि**) देखकर, उन्हें (**उपल**) पाषाणशिला समझकर, (**मृगगण**) हिरन अथवा दूसरे प्राणियों के समूह (**खाज**) अपनी खुजली को (**खुजावते**) खुजाने लगते हैं।

(**सुभ**) प्रिय अथवा (**असुहावने**) अप्रिय, पाँच इन्द्रियों सम्बन्धी (**रस**) पाँच रस, (**रूप**) पाँच वर्ण (**गंध**) दो गन्ध, (**फरस**) आठ प्रकार के स्पर्श, (**अर**) और (**शब्द**) शब्द — (**तिनमें**) उन सबमें मुनिराज को (**राग-विरोध**) राग-द्वेष (**न**) नहीं होते; इसलिए वे मुनि (**पंचेंद्री जयन**) पाँच इन्द्रियों को जीतनेवाला, अर्थात् जितेन्द्रिय (**पद**) पद (**पावने**) प्राप्त करते हैं।

भावार्थ - इस काव्य में निश्चयगुप्ति के स्वरूप का और भावलिङ्गी मुनिराज के अट्ठाईस मूलगुणों में से पाँच इन्द्रियजय का वर्णन किया गया है।

भावलिङ्गी मुनिराज, उग्र पुरुषार्थ द्वारा शुद्धोपयोगरूप परिणमित होकर निर्विकल्परूप से निज स्वरूप में गुप्त होते हैं, यह निश्चयगुप्ति है। उस समय मन -वचन-काय की क्रिया स्वयं रुक जाती है। उनकी शान्त और अचल मुद्रा देखकर, उनके शरीर को पत्थर समझकर, मृगों के झुण्ड अपनी खाज (खुजली) खुजाते हैं, तथापि वे मुनि अपने ध्यान में निश्चल रहते हैं। ऐसे भावलिङ्गी मुनिराजों के तीन गुप्तियाँ स्वयमेव होती हैं।

प्रश्न - अज्ञानी जीव, गुप्ति किसे मानते हैं और गुप्ति का सही स्वरूप क्या है?

उत्तर - मन-वचन-काय की बाह्य चेष्टा मिटाना चाहे, पाप का चिन्तवन न करे, मौन धारण करे तथा गमनादि न करे, उसे अज्ञानी जीव, गुप्ति मानते हैं। उस समय मन में तो भक्ति आदिरूप अनेक प्रकार के शुभरागादि विकल्प उठते हैं, वचन और काया की चेष्टा स्वयं ने रोक रखी है, वह शुभप्रवृत्ति है और प्रवृत्ति में तो गुप्तिपना हो नहीं सकता; इसलिए सम्यग्दर्शन-ज्ञान और आत्मा में लीनतारूप वीतरागभाव होने पर जहाँ मन-वचन-काया की चेष्टा स्वयमेव न हो, वही गुप्ति है।

(- श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७, पृष्ठ २२८ के आधार से)

मुनिराज पाँच इन्द्रियों के अनुकूल विषयों में; अर्थात्, पाँच रस, पाँच रूप, दो गन्ध, आठ स्पर्श तथा शब्दरूप विषयों में राग नहीं करते और ऊपर कहे हुए पाँच इन्द्रियों के प्रतिकूल विषयों में द्वेष नहीं करते; इस प्रकार पाँच इन्द्रियों को जीतने के कारण, वे जितेन्द्रिय कहलाते हैं।

छ
ह
ढा
ला

छन्द - ५

मुनिराज के छह आवश्यक और नग्नत्व आदि सात गुण इस प्रकार हैं –

समता सम्हारें, थुति उचारैं, वंदना जिनदेव कौं।
नित करैं श्रुति-रति करैं प्रतिक्रम, तजै तन अहमेव कौ॥
जिनकें न न्होंन, न दंत धोवन, लेश अंबर आवरण।
भूमाहि पछिली रैंनि में, कछु सयन एकासन करन॥

अन्वयार्थ – वीतरागी मुनि (**नित**) सदा (**समता**) सामायिक (**सम्हारें**) प्रमाद तजकर / सम्हालकर करते हैं; (**थुति**) स्तुति (**उचारैं**) बोलते हैं; (**जिनदेव कौ**) जिनेन्द्र भगवान की (**वंदना**) वन्दना करते हैं; (**श्रुति-रति**) स्वाध्याय में प्रेम (**करैं**) करते हैं; (**प्रतिक्रम**) प्रतिक्रमण (**करैं**) करते हैं; (**तन**) शरीर की (**अहमेव कौ**) ममता को (**तजै**) छोड़ते हैं।

मुनिराज के षट् आवश्यक

(जिनके) मुनियों को **(न्होंन)** स्नान और **(दंत धोवन)** दाँतों को स्वच्छ करना **(न)** नहीं होता, **(अंबर आवरण)** उनके शरीर ढँकने के लिये वस्त्र **(लेश)** किञ्चित् भी **(न)** नहीं होता, और **(पछिली रैंनि में)** रात्रि के पिछले भाग में **(भूमाहि)** धरती पर **(एकासन)** एक करवट से **(कछु)** कुछ समय तक **(सयन)** शयन **(करन)** करते हैं।

भावार्थ - मुनिराज के छह आवश्यक गुण ये होते हैं — वीतरागी मुनि सदा (१) सामायिक, (२) सच्चे देव-गुरु-शास्त्र की स्तुति, (३) जिनेन्द्र भगवान की वन्दना, (४) स्वाध्याय में प्रेम, (५) प्रतिक्रमण, और (६) कायोत्सर्ग; अर्थात्, शरीर के प्रति ममता का त्याग करते हैं; इसलिए उनको छह आवश्यक होते हैं।

आवश्यक का स्वरूप बताते हुए नियमसार गाथा १४१-१४२ में कहा है – 'जो अन्य वश नहीं है, वह अवश है और अवश का कर्म, वह **आवश्यक** हैं।'

भगवती आराधना की टीका में लिखा है – '**आवासयन्ति रत्नत्रयमात्मनीति आवश्यका**:; अर्थात्, वे क्रियाएँ आवश्यक हैं, जो आत्मा में रत्नत्रय का आवास कराती हैं।'

मूलाचार में स्वाध्याय के स्थान पर प्रतिक्रमण को आवश्यक में लिया गया है।

मुनिराज के नग्नत्व आदि सात गुण निम्न हैं —

मुनिराज कभी भी (१) स्नान नहीं करते, (२) दाँतों को साफ नहीं करते, (३) शरीर को ढँकने के लिए थोड़ा-सा भी वस्त्र नहीं रखते, (४) रात्रि के पिछले भाग में एक करवट से भूमि पर कुछ समय शयन करते हैं....।

छन्द - ६

साम्यभावी दिगम्बर मुनिराजों का अवशेष स्वरूप इस प्रकार है –

इक बार दिन में लैं अहार, खड़े अलप निज पान में।
कचलौंच करत, न डरत परीसह, सौ लगें निज ध्यान में॥
अरि-मित्र महल-मसान कंचन, कांच निंदन-थुति करन।
अर्घाउतारण असि प्रहारण, में सदा समता धरन॥

अन्वयार्थ - वीतरागी मुनिराज, **(दिन में)** दिन में **(इक बार)** एक बार **(खड़े)** खड़े रहकर, **(निज-पान में)** अपने हाथ की अञ्जुलि में रखकर **(अल्प)** थोड़ा-सा **(अहार)** आहार **(लैं)** लेते हैं; **(कचलौंच)** केशलोंच **(करत)** करते हैं; **(निज ध्यान में)** अपने आत्मा के ध्यान में **(लगें)** तत्पर होकर **(परीसह सौ)** बाईस प्रकार के परिषहों से **(न डरत)** नहीं डरते।

आहार केशलोंच

(अरि-मित्र) शत्रु या मित्र, **(महल-मसान)** महल या श्मशान, **(कंचन कांच)** सोना या काँच **(निंदन-थुति करन)** निन्दा या स्तुति करनेवाले,

(**अर्घाउतारण**) पूजा करनेवाले और (**असि प्रहारण**) तलवार से प्रहार करनेवाले, दोनों के प्रति मुनिराज (**सदा**) सदा (**समता**) समताभाव (**धरन**) धारण करते हैं।

भावार्थ - ..... (५) दिन में एक बार आहार लेते हैं, (६) खड़े-खड़े अपने हाथ की अञ्जुलि में रखकर थोड़ा लेते हैं, और (७) केशलोंच करते हैं। — इस प्रकार पाँच महाव्रत, पाँच समिति, छह आवश्यक, पाँच इन्द्रिय विजय एवं नग्नता आदि सात गुण — ये मुनिराज के अट्ठाईस मूलगुण होते हैं।

मुनिराज, आत्मध्यान में मग्न रहकर परीषहों से नहीं डरते; अर्थात्, बाईस प्रकार के परीषहों पर विजय प्राप्त करते हैं।

प्रश्न - बाईस प्रकार के परीषह कौन-कौनसे हैं?

उत्तर - क्षुधा, तृषा, शीत, उष्ण, डाँस-मच्छर, चर्या, शय्या, वध, रोग, तृणस्पर्श, मल, नग्नता, अरति, स्त्री, निषद्या, आक्रोश, याचना, सत्कार-पुरस्कार, अलाभ, अदर्शन, प्रज्ञा, और अज्ञान - ये बाईस प्रकार के परीषह हैं।

प्रश्न - सच्चा परीषहजय किसे कहते हैं?

उत्तर- भावलिङ्गी मुनिराज को तीन कषाय चौकड़ी; अर्थात्, अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान, प्रत्याख्यान का अभाव होने से प्रति समय स्वरूप में अति सावधानी के कारण जितने अंश में राग-द्वेष की उत्पत्ति नहीं होती, उतने अंश में निरन्तर परीषहजय होता है। **वास्तव में निज स्वभाव में स्थिरतापूर्वक राग-द्वेष की उत्पत्ति का अभाव ही सच्चा परीषहजय है।**

प्रश्न - अज्ञानी जीव, परीषहजय किसे मानते हैं?

उत्तर - क्षुधादिक लगने पर उसके नाश का उपाय नहीं करने को अज्ञानी जीव, परीषहजय मानते हैं।

प्रश्न - अज्ञानी की इस मिथ्या मान्यता में क्या भूल है?

उत्तर - वहाँ क्षुधादिक के नाश का उपाय तो नहीं किया, किन्तु अन्तरङ्ग में क्षुधादि होने अथवा अनिष्ट सामग्री मिलने से दुःखी हुआ। वे दुःखरूप परिणाम तो आर्त-रौद्रध्यान हैं; ऐसे भावों से संवर, अर्थात् परीषहजय किस प्रकार हो सकता है? अतः अज्ञानी की इस मान्यता के मूल में ही भूल है।

प्रश्न - सच्चा परीषहजय किस प्रकार होता है?

उत्तर - तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई पदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित न हो; दुःख के कारण मिलने से दुःखी न हो तथा सुख के कारण मिलने से सुखी न हो, किन्तु ज्ञेयरूप से उसका (दुःख-सुख का) ज्ञाता ही रहे, वही सच्चा परीषहजय है।

(- श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, अध्याय ७, पृष्ठ २२९ के आधार से)

छ ह ढा ला

समभावी भावलिङ्गी मुनिराज, शत्रु-मित्र, महल-श्मशान, सुवर्ण-काँच, निन्दा अथवा स्तुति करनेवाले, पूजा-भक्ति अथवा शस्त्रादि से प्रहार करनेवाले — इन सबके प्रति समभाव रखते हैं; अर्थात्, किसी पर राग-द्वेष नहीं करते।

मुनिराज के इस समताभाव को प्रदर्शित करनेवाले सैंकड़ों उदाहरणों से प्रथमानुयोग भरा हुआ है। मुनिराज यशोधर अपने गले में सर्प डालनेवाले राजा श्रेणिक और उस उपसर्ग का निवारण करनेवाली रानी चेलना व पुत्र अभयकुमार के प्रति एक समान समताभाव धारण करते हैं — यह पुराण प्रसङ्ग सर्व विदित ही है।

छन्द - ७

मुनिराज के तप, विहारादि का वर्णन करके, उनकी आन्तरिक पवित्रता का वर्णन इस छन्द से प्रारम्भ किया जा रहा है –

तप तपैं द्वादश, धरै वृष दश, रत्नत्रय सेवें सदां।
मुनि साथ में वा एक विचरें, चहैं नहि भव[१] सुख कदां॥
जो है सकल संजम चरित, सुनियै स्वरूपाचरण अव।
जिस होत प्रघटै आपनी निधि, मिटै पर की प्रवृत्ति सव॥

अन्वयार्थ – वीतरागी मुनिराज, सदैव (**द्वादश**) बारह प्रकार के (**तप तपैं**) तप करते हैं; (**दश**) दश प्रकार के (**वृष**) धर्म को (**धरैं**) धारण करते हैं, और (**रत्नत्रय**) सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान तथा सम्यक्चारित्र का (**सदां**) सदा (**सेवें**) सेवन करते हैं। (**मुनि साथ में**) वे, मुनियों के संघ में (**वा**) अथवा (**एक**) अकेले

(**विचरें**) विचरते हैं और (**कदां**) किसी भी समय (**भव सुख**) सांसारिक सुखों की (**नहिं चहैं**) इच्छा नहीं करते।

(**जो**) यह (**सकल संजम**) सकल संयम (**है**) है; (**अब**) अब (**स्वरूपाचरण चरित**) स्वरूपा-चरणचारित्र का वर्णन (**सुनियै**) सुनो, (**जिस**) जिस स्वरूपाचरण-चारित्र, अर्थात् स्वरूप में रमणतारूप चारित्र के (**होत**) होने से (**आपनी**) अपने आत्मा की (**निधि**) ज्ञानादिक

१. मूलप्रति में पाठ अशुद्ध है।

छ
ठ
वीं
ढा
ल

छ
ह
ढा
ला

सम्पत्ति (**प्रघटै**) प्रगट होती है तथा (**पर की**) परवस्तुओं के प्रति (**सब**) सर्व प्रकार की (**प्रवृत्ति**) प्रवृत्ति (**मिटै**) मिट जाती है।

भावार्थ - प्रस्तुत छन्द में मुनिराज के बारह तप, दश धर्म, और उनकी विहारचर्या का वर्णन करते हुए सकल संयम के कथन का उपसंहार किया गया है।

भावलिङ्गी मुनिराज का शुद्धात्मस्वरूप में लीन रहकर प्रतपना-प्रतापवन्त वर्तना, निश्चयतप है और हठरहित बारह प्रकार के तप का शुभविकल्प, व्यवहारतप है; वीतरागभावरूप उत्तमक्षमादि परिणाम, उत्तमक्षमाादि दश धर्म हैं। भावलिङ्गी मुनिराज को उपर्युक्तानुसार तप और धर्म का आचरण होता है। वे मुनियों के संघ में अथवा अकेले विहार करते हैं; किसी भी समय सांसारिक सुख की इच्छा नहीं करते।

अज्ञानी जीव, अनशनादि तप से निर्जरा मानते हैं किन्तु मात्र बाह्यतप करने से तो निर्जरा होती नहीं है। बाह्यतप तो शुद्धोपयोग बढ़ाने के लिए है और शुद्धोपयोग, निर्जरा का कारण है; इसलिए उपचार से बाह्यतप को भी निर्जरा का कारण कहा है। यदि बाह्य दुःख सहन करना ही निर्जरा का कारण हो, तब तो पशु आदि भी क्षुधा-तृषा सहन करते हैं; अतः उनके भी तप और निर्जरा होनी चाहिए।

प्रश्न - पशु आदि तो क्षुधा-तृषा आदि पराधीनतापूर्वक सहन करते हैं परन्तु स्वाधीनरूप से धर्मबुद्धिपूर्वक उपवासादि तप करनेवाले को तो निर्जरा होती है न?

उत्तर - धर्मबुद्धि से बाह्य उपवासादि करे तो वहाँ उपयोग तो अशुभ, शुभ या शुद्धरूप जिस प्रकार जीव परिणमे, परिणमित होगा। उपवास के प्रमाण में यदि निर्जरा हो तो निर्जरा का मुख्य कारण उपवासादि ही सिद्ध हों, किन्तु ऐसा तो हो नहीं सकता, क्योंकि परिणाम दुष्ट होने पर उपवासादि करने से भी निर्जरा कैसे हो सकती है? यदि ऐसा कहोगे कि - जैसे, अशुभ, शुभ या शुद्धरूप उपयोग परिणमित हो, तदनुसार बन्ध-निर्जरा हैं तो उपवासादि तप, निर्जरा का मुख्य कारण कहाँ रहा? अशुभ और शुभपरिणाम तो बन्ध का कारण सिद्ध हुए तथा शुद्धपरिणाम निर्जरा का कारण सिद्ध हुआ; अतः सिद्ध हुआ कि मात्र बाह्यतप, निर्जरा का कारण नहीं है।

प्रश्न - यदि ऐसा है तो अनशनादि को तप की संज्ञा क्यों दी गयी है?

उत्तर - उन्हें बाह्यतप कहा है; बाह्य का अर्थ है कि बाह्य में दूसरों को दिखाई दे कि यह तपस्वी है किन्तु स्वयं तो जैसे अन्तरङ्ग-परिणाम होंगे, वैसे ही फल को प्राप्त होगा।

इसी प्रकार अन्तरङ्ग तपों में भी प्रायश्चित, विनय, वैयावृत्य, स्वाध्याय, त्याग, और ध्यानरूप क्रिया में बाह्य प्रवर्तन है, वह तो बाह्यतप जैसा ही जानना। जैसी बाह्यक्रिया है, उसी प्रकार यह बाह्यक्रिया है; इसलिए प्रायश्चित आदि बाह्यसाधन भी अन्तरङ्ग तप नहीं हैं परन्तु ऐसा बाह्य प्रवर्तन होने पर जो अन्तरङ्ग परिणामों की शुद्धता हो, उसका नाम अन्तरङ्ग तप जानना और वहाँ तो निर्जरा ही है; वहाँ बन्ध नहीं होता। उस शुद्धता का अल्पांश भी रहे तो जितनी शुद्धता हुई, उससे तो निर्जरा है तथा जितना शुभभाव है, उनसे बन्ध है; इस प्रकार अनशनादि क्रिया को उपचार से तप संज्ञा दी गयी है – ऐसा जानना और इसलिए उसे व्यवहारतप कहा है। व्यवहार और उपचार का एक ही अर्थ है।

अधिक क्या कहें? इतना समझ लेना कि निश्चयधर्म तो वीतरागभाव है तथा अन्य अनेक प्रकार के भेद, निमित्त की अपेक्षा से उपचार से कहे हैं; उन्हें व्यवहारमात्र धर्म संज्ञा जानना। इस रहस्य को (अज्ञानी) नहीं जानता; इसलिए उसे निर्जरा का / तप का भी सच्चा श्रद्धान नहीं है। *(- श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २३०-३१ के आधार से)*

प्रश्न - क्रोधादिक का त्याग और उत्तमक्षमादि धर्म कब होता है?

उत्तर - अज्ञानी जीव, बन्धादि के भय अथवा स्वर्ग-मोक्ष की इच्छा से क्रोधादिक नहीं करता, किन्तु वहाँ क्रोध-मानादि करने का अभिप्राय तो गया नहीं है। जिस प्रकार कोई राजादि के भय से अथवा बड़प्पन-प्रतिष्ठा के लोभ से परस्त्री सेवन नहीं करता, तो उसे त्यागी नहीं कहा जा सकता; उसी प्रकार यह भी क्रोधादि का त्यागी नहीं है। तो फिर त्यागी किस प्रकार होता है? – परपदार्थ इष्ट-अनिष्ट भासित होने पर क्रोधादि होते हैं किन्तु जब तत्त्वज्ञान के अभ्यास से कोई परपदार्थ (संयोग) इष्ट -अनिष्ट भासित न हो, तब स्वयं क्रोधादिक की उत्पत्ति नहीं होती और तभी सच्चे क्षमादि धर्म होते हैं। *(- श्रीमोक्षमार्गप्रकाशक, पृष्ठ २२८-२२९ के आधार से)*

इस प्रकार सकलचारित्र का वर्णन करके, अब स्वरूपाचरणचारित्र का वर्णन करते हैं, जिसके प्रगट होने से आत्मा की अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख और अनन्त वीर्य आदि शक्तियों का पूर्ण विकास होता है और परपदार्थ की सर्व प्रवृत्तियाँ दूर होती हैं।

छन्द - ८

मुनिराज की स्वरूप स्थिरता का भाववाही वर्णन इस प्रकार है –

जिन परम पैंनी सुबुधि छेंनी, डारि अंतर भेदिया।
वरणादि अर रागादि तें, निज भाव कौं न्यारा कीया॥
निजमाहि निज के हेत निजकरि, आपकौं आपौ ग्रह्यौ।
गुण-गुणी, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय मंझार, कछु भेद न रह्यौ॥

अन्वयार्थ - (**जिन**) जो वीतरागी मुनिराज, (**परम**) अत्यन्त (**पैंनी**) तीक्ष्ण (**सुबुधि**) सम्यग्ज्ञान, अर्थात् भेद-विज्ञानरूपी (**छेंनी**) छैनी (**डारि**) पटककर (**अंतर**) अन्तरङ्ग में (**भेदिया**) भेद करके (**निज भाव कौं**) आत्मा के वास्तविक स्वरूप को (**वरणादि**) वर्ण, रस, गन्ध तथा स्पर्शरूप द्रव्यकर्म, नोकर्म से (**अर**) और (**रागादि तें**) राग-द्वेषादिरूप भावकर्म से (**न्यारा किया**) भिन्न करके (**निजमाहि**) अपने आत्मा में, (**निज के हेत**) अपने लिये, (**निजकरि**) अपने

द्वारा, (**आपकौं**) अपने आत्मा को, (**आपौ**) स्वयं अपने से (**गह्यो**) ग्रहण करते हैं, तब (**गुण**) गुण, (**गुणी**) गुणी, (**ज्ञाता**) ज्ञाता, (**ज्ञेय**) ज्ञान के विषय, और (**ज्ञान मंझार**) ज्ञान में / आत्मा में (**कछु भेद न रह्यौ**) किञ्चित्मात्र भेद-विकल्प नहीं रहता।

भावार्थ – जिस प्रकार कोई बलशाली पुरुष, तीक्ष्ण छैनी द्वारा पत्थर आदि के पृथक्-पृथक् दो भाग कर देता है; उसी प्रकार स्वरूपाचरणचारित्र में स्थित वीतरागी मुनिराज, अपने अन्तरङ्ग में भेदविज्ञानरूपी छैनी द्वारा अपने आत्मा के स्वरूप को ज्ञानावरणादि द्रव्यकर्म से, शरीरादिक नोकर्म से और राग-द्वेषादि भावकर्म से भिन्न करके, अपने आत्मा में, आत्मा के लिये, आत्मा को, स्वयं जानते हैं। उनके स्वानुभव में गुण, गुणी, अथवा ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय का कोई भेद नहीं रहता।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार छैनी, लोहे को काटकर दो टुकड़े कर देती है; उसी प्रकार शुद्धोपयोग, कर्मों को काटता है और आत्मा से उन कर्मों को पृथक् कर देता है।

प्रचुर वीतरागता के धनी

सर्वत्र वीतरागता ही जैनधर्म है। अविरत सम्यग्दृष्टि हो, देशव्रती श्रावक हो, अथवा सकलव्रती मुनिराज हों, सर्वत्र भूमिका के योग्य शुभभाव होने पर भी, परिणति में जितनी वीतरागता परिणमित है, उतना धर्म है; साथ में वर्तनेवाला शुभराग, वह कहीं धर्म अथवा धर्म का परमार्थ साधन नहीं है। सुख निधान निज ज्ञायकस्वभाव में रमनेवाले मुनिराज को भी अभी पूर्ण वीतराग-सर्वज्ञदशा प्रगट नहीं हुई है; पूर्णदशा तो अरहन्त परमात्मा को प्रगट हुई है। पूर्ण वीतरागदशा प्रगट नहीं होने पर भी मुनिराज को वीतरागस्वभावी निज ज्ञायक भगवान के उग्र आलम्बन से प्रचुर वीतरागता उत्पन्न हुई है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

छन्द - ९

कविवर ने ध्यान-ध्याता-ध्येय के भेदरहित, आत्मानुभूति का रोमाञ्चकारी वर्णन इस छन्द में प्रस्तुत किया है –

जिहि ध्यान-ध्याता-ध्येय कों न विकल्प, वच भेद न जहाँ।
चिद्भाव कर्म, चिदेश कर्ता, चेतना क्रिया तहां॥
तीनों अभिन्न अखिन्न सुध, उपयोग की निश्चल दसा।
प्रगटी जहाँ दृग-ज्ञान-व्रत ए, तीनिधा एकै लसा॥

अन्वयार्थ - (**जिहि**) जिस स्वरूपाचरणचारित्र में (**ध्यान**) ध्यान (**ध्याता**) ध्याता, और (**ध्येय को**) ध्येय — इन तीनों का (**विकल्प**) भेद (**न**) नहीं होता तथा (**जहाँ**) जहाँ (**वच**) वचन का (**भेद न**) विकल्प नहीं होता, (**तहां**) वहाँ तो (**चिद्भाव**) आत्मा का स्वभाव ही (**कर्म**) कर्म, (**चिदेश**) आत्मा ही (**कर्ता**)

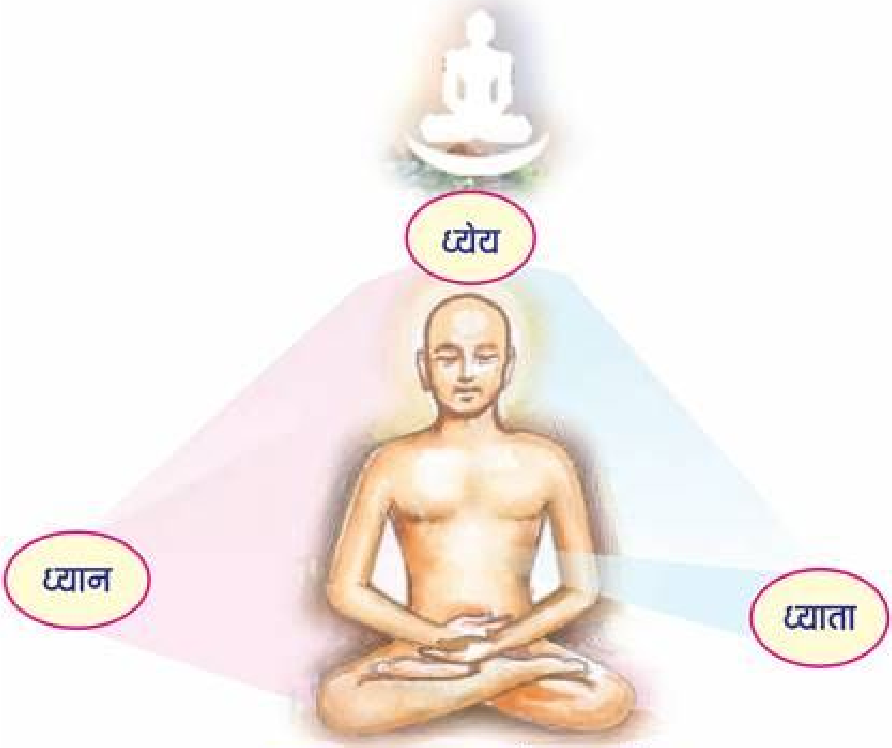

ध्यान-ध्याता-ध्येय अभेद

कर्ता, **(चेतना)** चैतन्यस्वरूप आत्मा ही **(क्रिया)** क्रिया होती है; **(तीनों)** अर्थात्, कर्ता, कर्म और क्रिया — ये तीनों **(अभिन्न)** भेदरहित -एक, **(अखिन्न)** अखण्ड हो जाते हैं और **(सुध उपयोग की)** शुद्ध उपयोग की **(निश्चल)** निश्चल **(दसा)** पर्याय **(प्रगटी)** प्रगट होती है, **(जहाँ)** जिसमें **(दृग-ज्ञान-व्रत)** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र **(ए तीनिधा)** — ये तीनों **(एकै)** एकरूप-अभेदरूप से **(लसा)** शोभायमान होते हैं।

भावार्थ - वीतरागी मुनिराज, स्वरूपाचरण के समय आत्मध्यान में लीन हो जाते हैं। उस दशा में ध्यान, ध्याता, और ध्येय का भेद नहीं रहता; वचन का विकल्प नहीं होता। उस आत्मध्यान में तो आत्मा ही कर्म, आत्मा ही कर्ता और आत्मा का भाव ही क्रिया होती है; अर्थात्, कर्ता-कर्म और क्रिया — ये तीनों एकरूप अखण्ड, अभिन्न हो जाते हैं। उस समय शुद्धोपयोग की ऐसी अचलदशा प्रगट होती है, जिससे सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र एक साथ-एकरूप होकर प्रकाशमान होते हैं।

कर्ता, अर्थात् स्वतन्त्ररूप से करे सो कर्ता; कर्म, अर्थात् कर्ता द्वारा हुआ कार्य; क्रिया, अर्थात् कर्ता द्वारा होनेवाली प्रवृत्ति।

आत्मज्ञान के प्रकाश से प्रकाशित दशा

अहा! आषाढ़ माह की घनघोर मेघ से भरपूर रात हो, जङ्गल में चारों ओर गहन अन्धकार व्याप्त हो परन्तु मुनिराज को अन्दर आत्मा में आत्मज्ञान में, आत्मानुभूति में प्रकाश व्याप्त हो गया है। अहा! जो चैतन्य की अनन्त शक्तियाँ हैं, उनमें से; अर्थात्, उनके उग्र अवलम्बन से मुनिराज को प्रकाश का ज्वार आया है। बाहर में भले ही अन्धकार हो परन्तु अन्दर में उन्हें आत्मज्ञान का अनुपम प्रकाश फैल गया है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

छन्द - १०

आत्मानुभव में क्या दिखता है और क्या नहीं? – इस छन्द में कविवर ने स्पष्टरूप से दर्शाया है –

परमान नय निक्षेप कौ न, उद्योत अनुभौ में दिसैं।
दृग-ज्ञान-बल सुख में सदां, नहिं आन भाव जु मो विखैं॥
में साध-साधक, में अबाधक, कर्म अर कर्म फल तें।
चिद् पिंड चंड अखंड सुगुण करंड, च्युत पुन्य फल तें॥

अन्वयार्थ - इस स्वरूपाचरणचारित्र के समय मुनियों के (**अनुभौ में**) आत्मानुभव में (**परमान**) प्रमाण, (**नय**) नय और (**निक्षेप कौ**) निक्षेप का विकल्प (**उद्योत**) प्रगट (**न दिसैं**) दिखाई नहीं देता, अपितु ऐसा अनुभव होता है कि — मैं (**सदा**) सदा (**दृग-ज्ञान-सुख-बल में**) अनन्त दर्शन-अनन्त ज्ञान

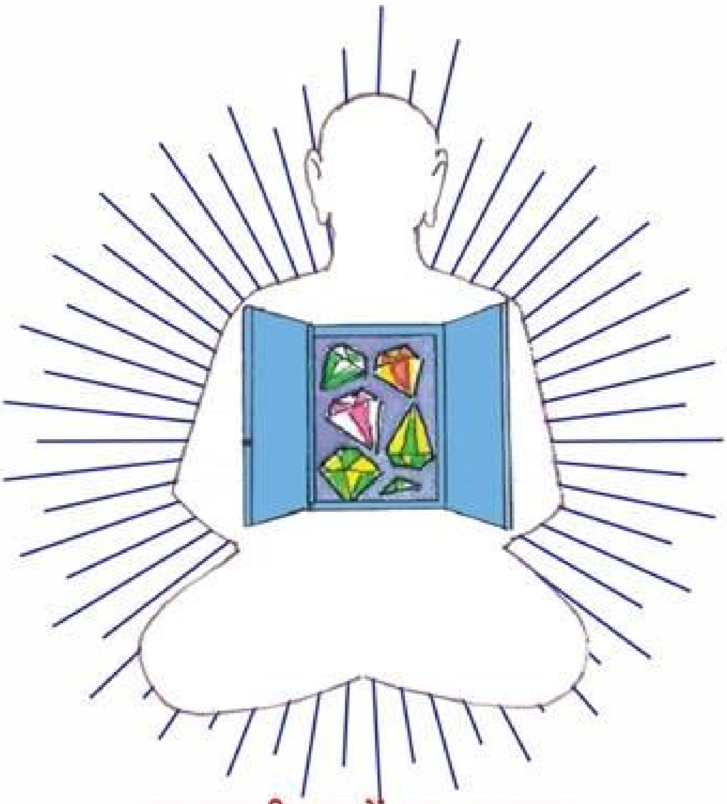

सुगुणरूपी रत्नों का भण्डार

–अनन्त सुख और अनन्त वीर्यमय हूँ। (**मो विखैं**) मेरे स्वरूप में (**आन**) अन्य राग–द्वेषादि (**भाव**) भाव (**नहिं**) नहीं हैं।(**में**) मैं (**साध**) साध्य हूँ, (**साधक**) मैं ही साधक हूँ; (**में**) मैं (**कर्म अर कर्म फल ते**) कर्म और उसके फल से पृथक् हूँ; (**चिद् पिंड**) ज्ञान–दर्शन–चैतन्यस्वरूप, (**चंड**) निर्मल व ऐश्वर्यवान (**अखंड**) अखण्ड हूँ; (**सुगुण करंड**) सुगुणों का भण्डार हूँ; (**अबाधक**) बाधारहित हूँ, और (**पुन्य फल तें**) पुण्य के फल से (**च्युत**) अलग हूँ।

भावार्थ – स्वरूपाचरणचारित्र के समय मुनियों के आत्मानुभव में प्रमाण, नय और निक्षेप का विकल्प तो नहीं उठता, किन्तु गुण–गुणी का भेद भी नहीं रहता। उन्हें ऐसा ध्यान होता है कि मैं अनन्त दर्शन, अनन्त ज्ञान, अनन्त सुख, और अनन्त वीर्यरूप हूँ; मुझमें कोई रागादिकभाव नहीं हैं। मैं ही साध्य हूँ, मैं ही साधक हूँ और कर्म तथा कर्मफल से पृथक् हूँ। मैं ज्ञान–दर्शन–चेतनास्वरूप, निर्मल, ऐश्वर्यवान तथा अखण्ड, सहज शुद्धगुणों का भण्डार और पुण्य–फल से रहित हूँ।

तात्पर्य यह है कि सर्व प्रकार के रागादि और भेद के विकल्पों से रहित निर्विकल्प आत्मस्थिरता को स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं।

ज्ञान वैराग्य शक्ति से युक्त मुनिदशा

छठवें गुणस्थान में मुनिराज को देव–शास्त्र–गुरु के प्रति भक्ति, विनय इत्यादि के उपरान्त पञ्च महाव्रत, अट्ठाईस मूलगुण आदि का विकल्प तथा तद्नुरूप प्रवर्तन होता है किन्तु किसी भी संयोग में चौथे, पाँचवें, छठे गुणस्थान में वर्तनेवाले समकिती की ज्ञान–वैराग्य–शक्ति कोई अलग ही रहती है। समयसार, निर्जरा अधिकार में कहा है कि भगवान ज्ञायक का यथार्थ ग्रहण, वह ज्ञान है और रागादि का अभाव, वह वैराग्य है। अहो! ज्ञानी की यह ज्ञान–वैराग्यधारा कोई अलौकिक ही होती है।

— पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी

छन्द - ११

प्रचण्ड आत्मध्यान के फल से प्राप्त केवलज्ञानदशा का आह्लादकारी वर्णन, आत्म अनुभूति की भावना पैदा करता है –

यौं चिंत निज में थिर भये, तिन अकथ जो आनंद लह्यो।
सो इंद्र नाग नरेंद्र वा, अहमेंद्र कौं नाहीं कह्यो॥
तबहीं सुकल ध्यानाग्नि करि, चौघात विधि कानन दह्यौ।
सब लखौ केवलज्ञानकरि, भुव लोक कौ सिवमग कह्यौ॥

अन्वयार्थ - (**यौं**) इस प्रकार (**चिंत**) चिन्तवन करके (**निज में**) आत्मस्वरूप में (**थिर भये**) लीन होने पर, (**तिन**) उन मुनियों को (**जो**) जो (**अकथ**) कहा न जा सके, ऐसा; अर्थात्, वचनातीत (**आनंद**) आनन्द (**लह्यो**) होता है; (**सो**) वह आनन्द (**इंद्र**) इन्द्र को, (**नाग**) नागेन्द्र को, (**नरेंद्र**) चक्रवर्ती को, (**वा अहमेंद्र कौं**) और अहमिन्द्र को भी (**नाहीं कह्यो**) कहने में नहीं आया, अर्थात् नहीं होता।

(**तब ही**) स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होते ही (**सुकल ध्यानाग्नि करि**) शुक्लध्यानरूपी अग्नि द्वारा (**चौघात विधि कानन**) चार घातिकर्मोंरूपी वन

(दह्यौ) जल जाता है, तब वे मुनिराज अरहन्तदशा प्राप्त कर लेते हैं। वे अरहन्त परमात्मा, **(केवलज्ञानकरि)** केवलज्ञान से **(सब)** तीन काल और तीन लोक में होनेवाले समस्त पदार्थों के सर्व गुण तथा पर्यायों को **(लखौ)** प्रत्यक्ष जान लेते हैं और **(भुव लोक कौ)** भव्य जीवों को **(सिवमग)** मोक्षमार्ग **(कह्यो)** बतलाते हैं।

भावार्थ - स्वरूपाचरणचारित्र के समय मुनिराज उपर्युक्तानुसार चिन्तवन -विचार करके आत्मा में लीन हो जाते हैं, तब उन्हें जो आनन्द होता है, वैसा आनन्द इन्द्र, नागेन्द्र, नरेन्द्र, अर्थात् चक्रवर्ती और अहमिन्द्र को भी नहीं होता।

स्वरूपाचरणचारित्र प्रगट होने के पश्चात्, स्वद्रव्य में उग्र एकाग्रता से; अर्थात्, शुक्लध्यानरूप अग्नि द्वारा चार घातिकर्मों का नाश होता है और अरहन्तदशा तथा केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, जिसमें तीन काल और तीन लोक के समस्त पदार्थ स्पष्ट ज्ञात होते हैं और वे अरहन्त परमात्मा, भव्य जीवों को मोक्षमार्ग का उपदेश देते हैं।

घातिकर्म दो प्रकार के हैं — द्रव्यघातिकर्म और भावघातिकर्म। उनमें शुक्लध्यान द्वारा शुद्धदशा प्रगट होने पर भावघातिकर्मरूप अशुद्धपर्यायें उत्पन्न नहीं होतीं, वह भावघातिकर्म का नाश है तथा उस समय द्रव्यघातिकर्मों का स्वयं अभाव होता है, वह द्रव्यघातिकर्म का नाश है।

छन्द - १२

सिद्धदशा का महिमाशाली वर्णन करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं –

पुण घात शेष अघात विधि, छिनमाहि अष्टम भू वसे।
वसु कर्म विनसे सुगुण वसु, सम्यक्त आदिक सब लसे॥
संसार खार अपार, पारावार तरि तीरें गये।
अविकार अकल अरूप सुध, चिद्रूप अविनासी भये॥

अन्वयार्थ – (**पुण**) केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् (**शेष**) शेष चार (**अघात विधि**) अघातियाकर्मों का (**घात**) नाश करके (**छिनमाहि**) कुछ ही समय में (**अष्टम भू**) आठवीं पृथ्वी–ईषत् प्राग्भार — मोक्षक्षेत्र में (**वसे**) निवास करते हैं; उनको (**वसु कर्म**) आठ कर्मों का (**विनसे**) नाश हो जाने से (**सम्यक्त आदिक**) सम्यक्त्वादि (**सब**) समस्त (**वसु सुगुण**) आठ मुख्य गुण (**लसे**) शोभायमान होते हैं। ऐसे सिद्ध होनेवाले मुक्तात्मा (**संसार खार अपार पारावार**) संसाररूपी खारे तथा अगाध समुद्र को (**तरि**) तैरकर (**तीरें गये**) पार हो जाते हैं

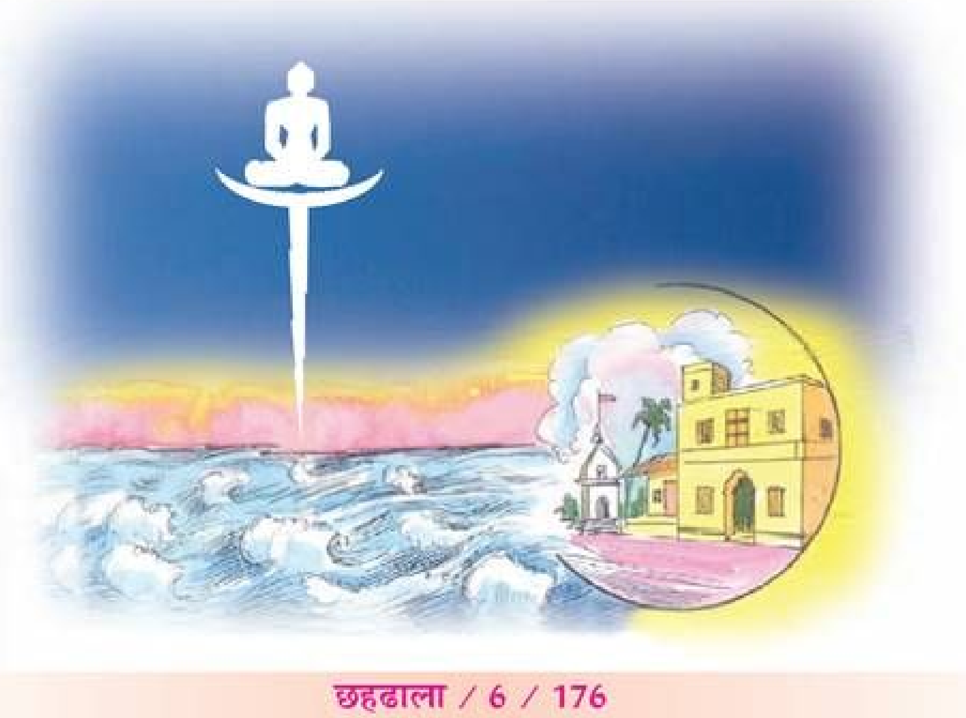

और (**अविकार**) विकाररहित, (**अकल**) शरीररहित, (**अरूप**) रूपरहित, (**सुध**) शुद्ध-निर्दोष (**चिद्रूप**) दर्शन-ज्ञान-चेतनास्वरूप तथा (**अविनासी**) नित्य-स्थायी (**भये**) होते हैं।

भावार्थ - अरहन्तदशा अथवा केवलज्ञान प्राप्त करने के पश्चात् जिन गुणों की पर्यायों में अशुद्धता होती है, उस अशुद्धता का क्रमशः अभाव होकर वह जीव, पूर्ण शुद्धदशा को प्रगट करता है। उस समय असिद्धत्त्व नामक अपने उदयभाव का नाश होता है तथा चार अघातिकर्मों का भी स्वयं सर्वथा अभाव हो जाता है। सिद्धदशा में सम्यक्त्वादि आठ गुणों की निर्मल पर्यायें प्रगट होती हैं। मुख्य आठ गुण, व्यवहार से कहे हैं; निश्चय से तो अनन्त गुण-सर्व गुणों की पर्यायें शुद्ध होती हैं और स्वाभाविक ऊर्ध्वगमन के कारण एक समयमात्र में लोकाग्र में पहुँचकर वहाँ स्थिर रह जाते हैं।

वे सिद्ध जीव, संसाररूपी दुःखदायी तथा अगाध समुद्र से पार हो गये हैं और निर्विकारी, अशरीरी, अमूर्तिक, शुद्ध चैतन्यरूप तथा अविनाशी होकर सिद्धदशा को प्राप्त हुए हैं।

सहज अद्भुत शान्त मुनिदशा

मुनिराज को देह में भी उपशमरस बरसता है, शरीर भी शान्त... शान्त... शान्त। अरे! वचन में भी कहीं चपलता अथवा चञ्चलता दिखाई नहीं देती - ऐसे शान्त होते हैं। उन मुनिराज को निर्ग्रन्थ गुरु कहा जाता है। उनको देह की नग्नदशा निमित्तरूप होती ही है परन्तु नग्नदशा अथवा पञ्च महाव्रत के शुभविकल्प भी चारित्र नहीं हैं, उनसे मोक्ष नहीं है; मोक्ष तो अन्दर शुद्धात्मद्रव्य -सामान्य के उग्र अवलम्बन से प्रगट होनेवाली स्वरूप स्थिरता से ही होता है। वह स्वरूप स्थिरता, उस मुनिदशा में है। अन्तरङ्ग में प्रगट होनेवाली वह सहज मुनिदशा अद्भुत है। मुनिराज की मुद्रा भी शान्तरस से नितरती होती है। अहा! ऐसी बात है। — *पूज्य गुरुदेवश्री कानजीस्वामी*

छन्द - १३

समस्त विश्व में कौन जीव धन्य है? – प्रस्तुत छन्द में कविवर दौलतरामजी इस प्रश्न का उत्तर दे रहे हैं –

जिनमाहि लोक-अलोक गुण, पर्याय प्रतिव्यंवत भये।
रहिहै अनंतानंत काल, जथा तथा शिव परणये॥
धनि धन्य हैं जे जीव, नरभव पाय यह कारज कीया।
तिनही अनादी भ्रमन पंच प्रकार, तजि वर सुख लीया॥

अन्वयार्थ - (**जिनमाहि**) उन सिद्धभगवान को (**लोक-अलोक**) लोक तथा अलोक के (**गुण, पर्याय**) गुण और पर्यायें (**प्रतिव्यंवत भये**) झलकने लगते हैं; अर्थात्, ज्ञात होने लगते हैं। वे (**यथा**) जिस प्रकार (**शिव**) मोक्षरूप से (**परिणये**) परिणमित हुए हैं, (**तथा**) उसी प्रकार (**अनंतानंत काल**) अनन्त –अनन्त काल तक (**रहिहै**) रहेंगे।

(जे) जिन **(जीव)** जीवों ने **(नरभव पाय)** मनुष्यभव (पुरुष पर्याय) प्राप्त करके **(यह)** यह मुनिपद आदि द्वारा शुद्ध चैतन्य की प्राप्तिरूप **(कारज)** कार्य **(कीया)** किया है, वे जीव **(धनि धन्य हैं)** धन्य-धन्य हैं क्योंकि **(तिनही)** उन्हीं जीवों ने **(अनादी)** अनादि काल से चले आ रहे **(पंच प्रकार)** पाँच प्रकार के परावर्तनरूप **(भ्रमन)** संसारपरिभ्रमण को **(तजि)** छोड़कर, **(वर)** उत्तम **(सुख)** सुख **(लीया)** प्राप्त किया है।

भावार्थ - सिद्ध भगवान, केवलज्ञान के द्वारा लोक और अलोक; अर्थात्, समस्त पदार्थों को अपने-अपने गुण और उनकी तीनों काल की पर्यायों को एक साथ, स्वच्छ दर्पण के दृष्टान्तरूप से-सर्व प्रकार से स्पष्ट जानते हैं किन्तु उनके ज्ञान में दर्पण की भाँति छाया और आकृति नहीं पड़ती। वे पूर्ण पवित्रतारूप मोक्षदशा को प्राप्त हुए हैं तथा वह दशा, वहाँ विद्यमान अन्य सिद्ध-मुक्त जीवों की भाँति अनन्तानन्त काल तक रहेगी; अर्थात्, अपरिमित काल व्यतीत हो जाने पर भी उनकी अखण्ड ज्ञायकता-शान्ति आदि में किञ्चित् बाधा नहीं आयेगी।

जिस प्रकार यदि बीज को जला दिया जाए तो वह उगता नहीं है; उसी प्रकार जिन्होंने संसार के कारणों का सर्वथा नाश कर दिया, वे पुनः अवतार-जन्म धारण नहीं करते। अथवा जिस प्रकार मक्खन से घी अलग हो जाने के पश्चात्, पुनः मक्खन नहीं बनता; उसी प्रकार आत्मा की सम्पूर्ण पवित्रतारूप अशरीरी मोक्षदशा [परमात्मपद] प्रगट करने के पश्चात्, उसमें कभी अशुद्धता नहीं आती; अर्थात्, संसार में पुनः आगमन नहीं होता।

जिन जीवों ने मनुष्यपर्याय प्राप्त करके, शुद्ध चैतन्य की प्राप्तिरूप कार्य किया है, वे जीव धन्य हैं — प्रशंसा के पात्र हैं क्योंकि उन्होंने अनादिकाल से चले आ रहे पञ्च परावर्तनरूप संसार के परिभ्रमण का त्याग करके, उत्तम सुख-मोक्षसुख प्राप्त किया है।

छन्द - १४

प्रस्तुत छन्द में ग्रन्थकार ने आत्महितकारी पावन प्रेरणा देकर, हमें शीघ्र निजहित करने के लिये प्रेरित किया है –

मुख्यौपचार दुभेद यौं, बडभाग रत्नत्रय धरै।
अरु धरैंगे ते शिव लहै, तिन सुजस-जल जग-मल हरै॥
इमि जानि आलस हांनि साहस ठांनि, इह सिख आदरौ।
जबलों न रोग जरा ग्रहै, तबलौ झटित निज हित करौ॥

अन्वयार्थ - **(बडभाग)** जो महा-पुरुषार्थी जीव, **(यौं)** इस प्रकार **(मुख्यौपचार)** निश्चय और व्यवहार **(दुभेद)** दोनों प्रकार के **(रत्नत्रय)** रत्नत्रय को **(धरै अरु धरैंगे)** धारण करते हैं और करेंगे, **(ते)** वे **(शिव)** मोक्ष **(लहै)** प्राप्त करते हैं। **(तिन)** उन जीवों का **(सुजस-जल)** सुकीर्तिरूपी जल **(जग-मल)** संसाररूपी मैल का **(हरै)** नाश करता है। **(इमि)** ऐसा **(जानि)** जानकर

(आलस) स्वरूप में प्रमाद – असावधानी **(हांनि)** छोड़कर, **(साहस)** पुरुषार्थ **(ठांनि)** करके, **(इह)** यह **(सिख)** शिक्षा–उपदेश **(आदरौ)** ग्रहण करो कि **(जबलों)** जब तक **(रोग जरा)** रोग या वृद्धावस्था **(न ग्रहै)** न आये, **(तबलौ)** तब तक **(झटित)** शीघ्र ही **(निज हित)** आत्मा का हित **(करौ)** कर लेना चाहिए।

भावार्थ – जो सत्पुरुषार्थी जीव, सर्वज्ञ–वीतरागी द्वारा कथित निश्चय और व्यवहाररत्नत्रय का स्वरूप जानकर, उपादेय और हेय तत्त्वों का स्वरूप समझकर, अपने शुद्ध उपादान–आश्रित निश्चयरत्नत्रय को; अर्थात्, शुद्धात्माश्रित वीतरागभावस्वरूप मोक्षमार्ग को धारण करते हैं और करेंगे, वे जीव पूर्ण पवित्रतारूप मोक्ष को प्राप्त होते हैं और होते रहेंगे।

निश्चयरत्नत्रय के साथ भूमिकानुसार शुभराग आता है, वह व्यवहाररत्नत्रय है। उसे निश्चय से उपादेय न मानना ही व्यवहाररत्नत्रय का धारण करना है। जो जीव, मोक्ष को प्राप्त हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे, उनका सुकीर्तिरूपी जल कैसा है ? — कि जो सिद्ध परमात्मा का यथार्थ स्वरूप समझकर, स्वोन्मुख होनेवाले भव्य जीव हैं, उनके संसार; अर्थात्, मलिनभावरूपी मल को हरने का निमित्त है। ऐसा जानकर, प्रमाद को छोड़कर, साहस; अर्थात्, सच्चा पुरुषार्थ करके, यह उपदेश अङ्गीकार करो। जब तक रोग या वृद्धावस्था ने शरीर को नहीं घेरा है, तब तक शीघ्र / वर्तमान में ही आत्मा का हित कर लो।

छन्द - १५

कविवर पण्डितप्रवर दौलतरामजी भव्यजीवों को अति करुणापूर्वक रागरूपी अङ्गारों से बचकर, निजपद में जमने की अन्तिम सीख देते हैं –

इह राग-आग दहै सदा, तातें समामृत सेईयै।
चिर भजे विषय-कषाय अब तौ, त्यागि निजपद बेईयै॥
कह रचौ पर पद में, न तेरौ पद यहै, क्यौं दुख सहै।
अब 'दौल'! होउ सुखी सुपद-रचि, दाव मति चूकै यहै॥

अन्वयार्थ – (**इह**) यह (**राग-आग**) रागरूपी अग्नि (**सदा**) अनादिकाल से जीव को (**दहै**) निरन्तर जला रही है; (**तातें**) इसलिए (**समामृत**) समतारूपी अमृत का (**सेईयै**) सेवन करना चाहिए। (**विषय-कषाय**) विषय कषाय का (**चिर भजे**) अनादिकाल से सेवन किया है, (**अब तौ**) अब तो (**त्यागि**) उसका त्याग करके (**निजपद**) आत्मस्वरूप को (**बेईयै**) जानना चाहिए – प्राप्त करना चाहिए। (**दौल!**) हे दौलतराम! (**पर पद में**) परपदार्थों में-परभावों में (**कह**)

क्यों (**रचौ**) आसक्त-सन्तुष्ट हो रहा है ? (**यहै**) यह (**पद**) पद, (**तेरौ**) तेरा स्वपद (**न**) नहीं है। तू (**दुख**) दुःख (**क्यौं**) किसलिए (**सहै**) सहन करता है ? (**अब**) अब (**सुपद**) अपने आत्मपद-सिद्धपद में (**रचि**) लगकर, (**सुखी**) सुखी (**होउ**) होओ ! (**यहै**) यह (**दाव**) अवसर (**मति चूकै**) मत गँवाओ !

भावार्थ - यह राग, अर्थात् मोह, अज्ञानरूपी अग्नि, संसारी जीवों को अनादि काल से निरन्तर जला रही है — दुःखी कर रही है; इसलिए जीवों को निश्चयरत्नत्रयमय समतारूपी अमृत का पान करना चाहिए, जिससे राग-द्वेष-मोह और अज्ञान का नाश हो। जीव, अनादिकाल से विपरीत पुरुषार्थ द्वारा विषय-कषायों का सेवन कर रहा है, अब उसका त्याग करके आत्मपद (मोक्ष) प्राप्त करना चाहिए। हे भाई ! तू दुःख किसलिए सहन करता है ? तेरा वास्तविक स्वरूप अनन्त दर्शन-ज्ञान-सुख और अनन्त वीर्य है, तुझे उसमें लीन होना चाहिए। ऐसा करने से ही सच्चा-सुख / मोक्ष प्राप्त होता है; इसलिए हे दौलतराम* ! अर्थात्, हे जीव ! अब आत्मस्वरूप की प्राप्ति कर ! आत्मस्वरूप को पहिचान ! यह उत्तम अवसर बारम्बार प्राप्त नहीं होता; इसलिए इसे मत गँवा। सांसारिक मोह का त्याग करके, मोक्ष प्राप्ति का उपाय कर !

यहाँ विशेष यह समझना कि जीव, अनादिकाल से मिथ्यात्वरूपी अग्नि तथा राग-द्वेषरूप अपने अपराध से ही दुःखी हो रहा है; इसलिए अपने यथार्थ पुरुषार्थ से ही सुखी हो सकता है। ऐसा नियम होने से जड़कर्म के उदय से या किसी पर के कारण दुःखी हो रहा है अथवा पर के द्वारा जीव को लाभ-हानि होते हैं — ऐसा मानना उचित नहीं है।

छ ठ वीं ढा ल

* दौलतराम - अपने अनन्त गुणों की दौलत / भण्डार के राम, अर्थात् स्वामी।

प्रशस्ति छन्द

कविवर पण्डित दौलतरामजी, इस ग्रन्थ रचना का काल एवं इसके प्रेरणा स्रोत का उल्लेख कर, अपनी लघुता प्रदर्शित करते हुए ग्रन्थ पूर्ण करते हैं –

इक नव वसु इक वर्ष की, तीज सुकल वैसाख।
कह्यो तत्व उपदेश यह, लखि बुधजन की भाख॥
लघु धी तथा प्रमाद तें, शब्द अर्थ की भूल।
सुधी सुधारि पढौ सदां, जौं पावो भव कूल॥

अन्वयार्थ – (**इक**) एक (**वसु**) आठ (**नव**) नौ (**इक**) एक (**वर्ष की**) संवत् की (**वैसाख**) वैशाख (**सुकल**) शुक्ल (**तीज**) तीज को (**बुधजन की**) बुधजन कवि के (**भाख**) कथन को (**लखि**) देखकर, (**यह**) यह (**तत्त्व उपदेश**) तत्त्वोपदेश (**कह्यो**) किया है। (**लुघधी**) अल्पबुद्धि (**तथा**) और (**प्रमाद तें**) प्रमाद से यदि (**शब्द**) शब्द (**अर्थ की**) अर्थ में / की (**भूल**) भूल हो तो (**सुधी**) हे सुविज्ञ जीवों ! इसे (**सदां**) सदैव (**सुधार**) सुधार कर (**पढौ**) पढ़ो / पढ़ना, (**जौं**) जिससे (**भव कूल**) संसारसागर के तट को (**पावो**) प्राप्त करोगे।

भावार्थ – पण्डित बुधजनकृत छहढाला के कथन का आधार लेकर मैंने (दौलतराम ने) विक्रम सम्वत् १८९१ वैशाख शुक्ल ३ (अक्षय तृतीया) के दिन इस छहढाला ग्रन्थ की रचना की है। मेरी अल्पबुद्धि तथा प्रमादवश उसमें कहीं शब्द की या अर्थ की भूल रह गयी हो तो बुद्धिमान उसे सुधारकर पढ़ें, ताकि जीव संसारसमुद्र को पार करने में शक्तिमान हो।

छठवीं ढाल का सारांश

ग्रन्थकार पण्डित दौलतरामजी ने पाँचवीं ढाल के अन्तिम छन्द में मुनिधर्म का निरूपण करने की प्रतिज्ञा की थी, तदनुसार इस छठवीं ढाल में मुनिधर्म का अत्यन्त सारगर्भित, संक्षिप्त और निश्चय-व्यवहार की सन्धिपूर्वक वर्णन किया गया है।

मुनिधर्म की आन्तरिक पवित्रता, मिथ्यात्व और अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यान व अप्रत्याख्यानावरण कषाय के अभावरूप, प्रचुर वीतरागभावस्वरूप होती है; उन्हें निज भगवान आत्मा का प्रचुर स्वसंवेदन होता है। मात्र एक संज्वलनकषाय के तीव्र उदय में किञ्चित् मन्दकषायरूप रागपरिणति रहती है, जिसके कारण उनकी प्रवृत्ति में अहिंसादि पाँच महाव्रत, पाँच समितियाँ, पाँच इन्द्रियजय, छह आवश्यक, तथा नग्नत्व, केशलोञ्च, अस्नान, अदन्त धोवन, भूमिशयन, एक बार और करपात्र में आहाररूप अट्ठाईस मूलगुण प्रवर्तित होते हैं।

यहाँ यह भी ध्यान देने योग्य है कि वे मुनिराज न तो उन मूलगुणों को धर्म मानते हैं और न विकल्पात्मक भूमिका में इनमें से किसी का अभाव होता है। तात्पर्य यह है कि मूलगुणों का अखण्डरूप से पालन होता है।

उस समय उनके अन्तरङ्ग में विद्यमान सकल चारित्ररूप शुद्धि निश्चयमुनिधर्म, अर्थात् भावलिङ्ग है और उक्त वर्णित मूलगुणादि का भाव, व्यवहार मुनिधर्म, अर्थात् द्रव्यलिङ्ग है। ये दोनों ही लिङ्ग प्रत्येक मुनिराज के होते हैं। अन्तरङ्ग मुनियोग्य शुद्धि के बिना, मात्र द्रव्यलिङ्ग, धर्म का कारण नहीं हो सकता।

मुनिराज, स्वभाव के लक्ष्य से निरन्तर अन्तरङ्ग पवित्रता की वृद्धि करते हैं और अरहन्त-सिद्धदशा के कारणरूप, उत्कृष्ट शुद्धोपयोग; अर्थात्, स्वरूपाचरणचारित्ररूप परिणमित होते हैं।

जिस चारित्र के होने से समस्त परपदार्थों से वृत्ति हट जाती है; वर्णादि तथा रागादि से चैतन्यभाव को पृथक् कर लिया जाता है; अपने आत्मा में, आत्मा के लिए, आत्मा द्वारा अपने आत्मा का ही अनुभव होने लगता है; जहाँ नय, प्रमाण, निक्षेप; गुण-गुणी; ज्ञान-ज्ञाता-ज्ञेय; ध्यान-ध्याता-ध्येय; कर्ता-कर्म और क्रिया आदि भेदों का

किञ्चित् विकल्प नहीं रहता; शुद्ध उपयोगरूप अभेद रत्नत्रय द्वारा शुद्ध चैतन्य का ही अनुभव होने लगता है, उसे स्वरूपाचरणचारित्र कहते हैं। **यह स्वरूपाचरणचारित्र चौथे गुणस्थान से प्रारम्भ होकर मुनिदशा में उच्च / उग्र होता है।** तत्पश्चात् शुक्लध्यान द्वारा चार घातिकर्मों का नाश होने पर वह जीव, केवलज्ञान प्राप्त करके १८ दोषरहित श्रीअरिहन्तपद को प्राप्त करता है। फिर शेष चार अघातिकर्मों का भी नाश करके, क्षणमात्र में मोक्ष प्राप्त कर लेता है। उस आत्मा में अनन्त काल तक अनन्त चतुष्टय का (अनन्त ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्य का) एक-सा अनुभव होता रहता है, फिर उसे पञ्च परावर्तनरूप संसार में नहीं भटकना पड़ता; वह कभी अवतार धारण नहीं करता; सदैव अक्षय-अनन्त सुख का अनुभव करता है; अखण्डित ज्ञान-आनन्दरूप अनन्त गुणों में निश्चल रहता है।

जो जीव, मोक्ष की प्राप्ति के लिए इस रत्नत्रय को धारण करते हैं और करेंगे, उन्हें अवश्य ही मोक्ष की प्राप्ति होगी। प्रत्येक संसारी जीव, मिथ्यात्व, कषाय और विषयों का सेवन तो अनादि काल से करता आया है किन्तु उससे जीव को किञ्चित् शान्ति प्राप्त नहीं हुई। शान्ति का एकमात्र कारण तो मोक्षमार्ग है; उसमें जीव ने कभी तत्परतापूर्वक प्रवृत्ति नहीं की; इसलिए अब भी यदि शान्ति; अर्थात्, आत्महित की इच्छा हो तो आलस्य को छोड़कर, आत्मा का कर्तव्य समझकर; रोग और वृद्धावस्थादि आने से पूर्व ही मोक्षमार्ग में प्रवृत्त हो जाना चाहिए, क्योंकि यह मनुष्यपर्याय, सत्समागम आदि सुयोग बारम्बार प्राप्त नहीं होता; इसलिए इसे व्यर्थ न गँवाकर अवश्य ही आत्महित साध लेना चाहिए।

इस प्रकार अध्यात्मप्रेमी कविवर पण्डित दौलतरामजी द्वारा रचित छहढाला में मुक्तिमार्ग का तीसरा चरण 'सम्यक्चारित्र और उसका फल' का निरुपण करनेवाली छठवीं ढाल पूर्ण हुई।

अध्यात्मप्रेमी कविवर पण्डित दौलतरामजी रचित

छहढाला

(पाठान्तर)

पहली ढाल

प्रस्तुत संस्करण	विविध प्रकाशित संस्करण	छन्द क्रमाङ्क
तीनि	तीन	मङ्गलाचरण
समारिकर	सम्हारिकैं	मङ्गलाचरण
त्रभुवन	त्रिभुवन	१
पिऔ	पियो	२
तासु	तास	३
जथा	यथा	३
सहस डसत	डसे नहिं	९
मेरु-प्रमान	समान	१०
तीनि	तीन	१२
अन्न	नाज	१२
नरभव	नरगति	१२
समै	समय	१४
भवनत्रक	भवनत्रिक	१५
सुरतनु	सुरतन	१५
तहाँ	तहँ	१६
परवर्तन	परिवर्तन	१६

दूसरी ढाल

ताकूँ	ताको	३
जानि	जान	३
मेरौ	मेरे	४
आपकूं	आपको	५
जे	ये	५
रोकी	रोके	७
दुःखदाई	दुःखदायक	७
विषयनि की	विषयनि में	८
प्रवृत्ति	प्रवृत्त	८
ताकूं	ताकों	८
एह	जेह	८
तिनहि	तिन्हैं	१२
अभ्यास	कपिलादिरचित श्रुत को अभ्यास	१३
त्यागि	त्याग	१५
देय	देहु	१५
त्यागि	त्याग	१५
सुपागि	सुपाग	१५

तीसरी ढाल

बिनु	बिन	१
दुविध	द्विविध	१
रूप	सो निश्चय	१
मोख	मोक्ष	३
मध्य	मध्यम	४
जघन्य	जघन	४
त्रविधि	त्रिविध	४
बिनु	बिन	४
आगारी	अनगारी	५
समदिष्टी	समदृष्टि	५
सो	श्री	५
जाके	ताके	७
ताके	जाके	७
अधरम	होय अधर्म सहाई	७
निअत	नियत	८
जानि	मान	१०

भानौ	भानै	१२
न	न देख,	१२
पिछानौ	पिछानै	१२
संत	सतत	१३
तिनहि	तिन्हैं	१४
जोतिस	ज्योतिष	१६
वाण	वान	१६
तीनि	तीन	१६
मोखमहल	मोक्षमहल	१७
प्रथम सिडी है	परथम सीढी	१७
सोई	सो	१७
सुनि	सुन	१७
फिरि	फिर	१७

चौथी ढाल

जानि	जान	२
दुहून	दुहु	२
युगपति	युगपत्	२
परतक्ष	परतछि	३
परमाण	परिमाण	३
प्रघट	प्रगट	४
मृत	मृति	४
धारि	धार	५
ग्रैवक	ग्रीवक	५
भयौ	भये	७
थिर	फिर	७
अरन	अरनि	८
थिर	फिर	९
धंध	दंद	९
प्रमाण	विचार	११
गनि	ठान	११
कैं	की	१२
चित्तैं	चिन्तैं	१२
सामायक	सामायिक	१४
धरि	करि	१४
करै	करहि	१४
पावै	जावै	१५

पाँचवीं ढाल

माही	माई	१
चिंतवौ	चिन्तैं	१
समरस	समरस	२
जामें	यामें	५
प्रघट	प्रगट	७
राधि	राध	८
घनेरा	घनेरे	९
निरवेरा	निरवेरे	९
अनुभौ	अनुभव	१०
गहि	लहि	१०
जे	जो	१४
ते	सो	१४
करतूति	करतूत	१५

छठवीं ढाल

त्रण	मृण	१
चउकर	चौकर	२
अहितहरि	अहितहर	२
श्रुत	श्रुति	२
संसै	संशय	२
जिनकौ	जिनके	२
सुच	शुचि	३
संजम	संयम	३
रेनि में	रयनि में	५
अर्घाउतारण	अर्घावतारन	६
कर्म फल तें	तसु फलनितैं	१०
पुन्य फल तें	पुनि फलनितैं	१०
अघात	अघाति	१२
तीरें	तीरहिं	१२
सुध	शुचि	१२
जिनमाहि	निजमाँहि	१३
सुपद	स्वपद	१५

हस्तलिखित

आध्यात्म प्रेमी कविवर पण्डित दौलतरामजी कृत

छहढाला

प्राचीन हस्तलिखित प्रति

प्राप्ति सौजन्य :

श्री पार्श्वनाथ दिगम्बर जैन पंचायती मन्दिर अलीगढ़

लिपिकार :

दीपचन्द ब्राह्मण, फिरोजाबाद

समय :

विक्रम संवत् 1944, आ ाढ़ सुदी चौथ, ुक्रवार

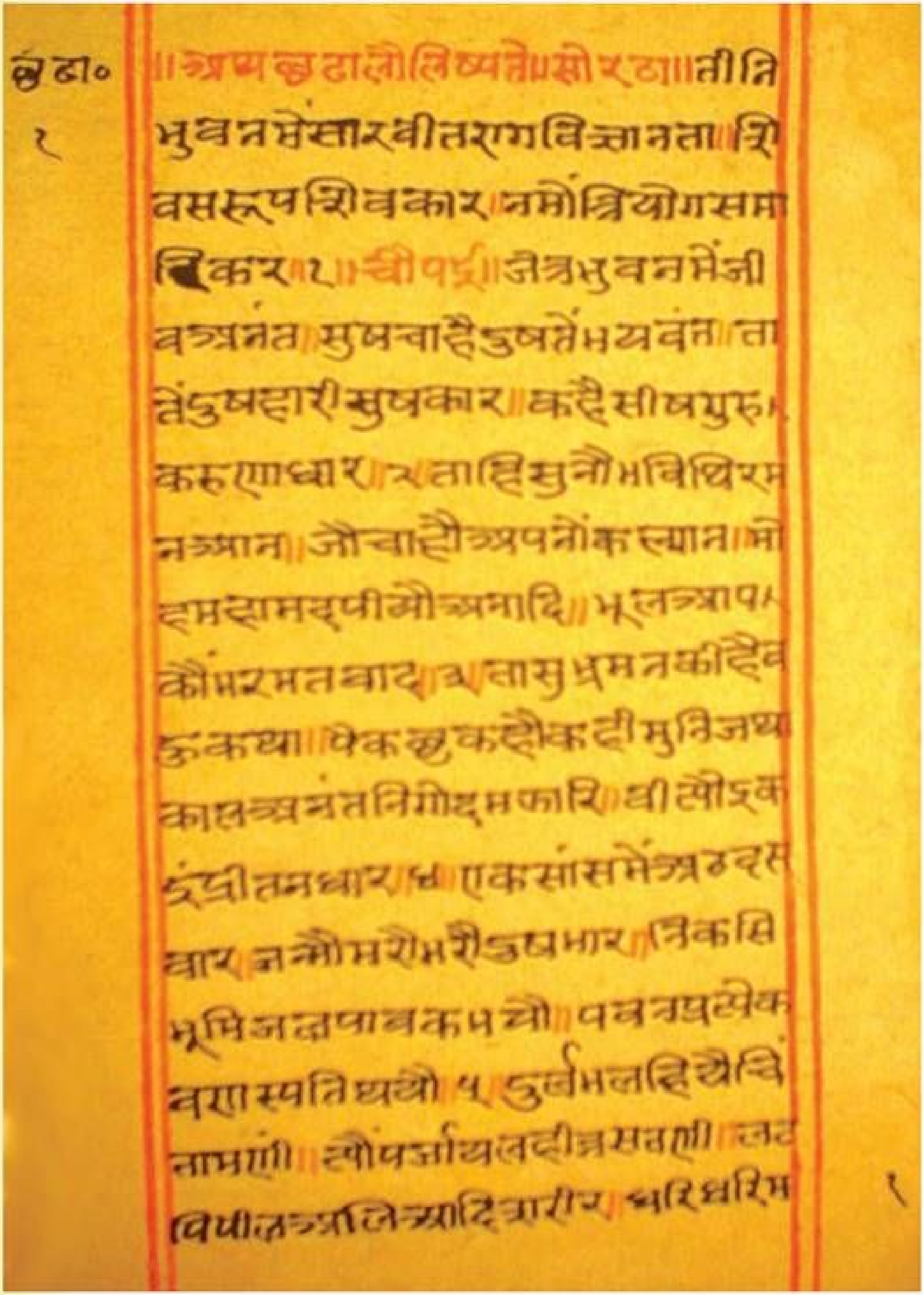

छ॰ढा॰ ॥अथ छहढालो लिष्यते॥सोरठा॥तीनि
१ भुवन में सार वीतराग विज्ञानता॥शि
वसरूप शिवकार॥नमो त्रियोग सम्हा
रिकर॥१॥चौपई॥जे त्रिभुवन में जी
व अनंत॥सुष चाहै दुषतें भयवंत॥ता
तें दुषहारी सुषकार॥कहै सीष गुरु
करुणाधार॥२॥ताहि सुनो भवि थिर म
न आन॥जो चाहो अपनो कल्यान॥मो
ह महामद पीयो अनादि॥भूल आपकौ
भरमत वादि॥३॥तासु भ्रमन की है ब
हु कथा॥पै कछु कहूं कही मुनि जथा
काल अनंत निगोद मकारि॥बीतो इक
इंद्री तन धार॥४॥एक सांस में अठदस
बार॥जन्मो मरो भरो दुष भार॥निकसि
भूमि जल पावक भयो॥पवन प्रत्येक
वनस्पति थयो॥५॥दुर्लभ लहि ज्यों चिं
तामणी॥त्यों पर्याय लही त्रसतणी॥लट
पीपल अलि आदि शरीर॥धरि धरि म १

हस्तलिखित

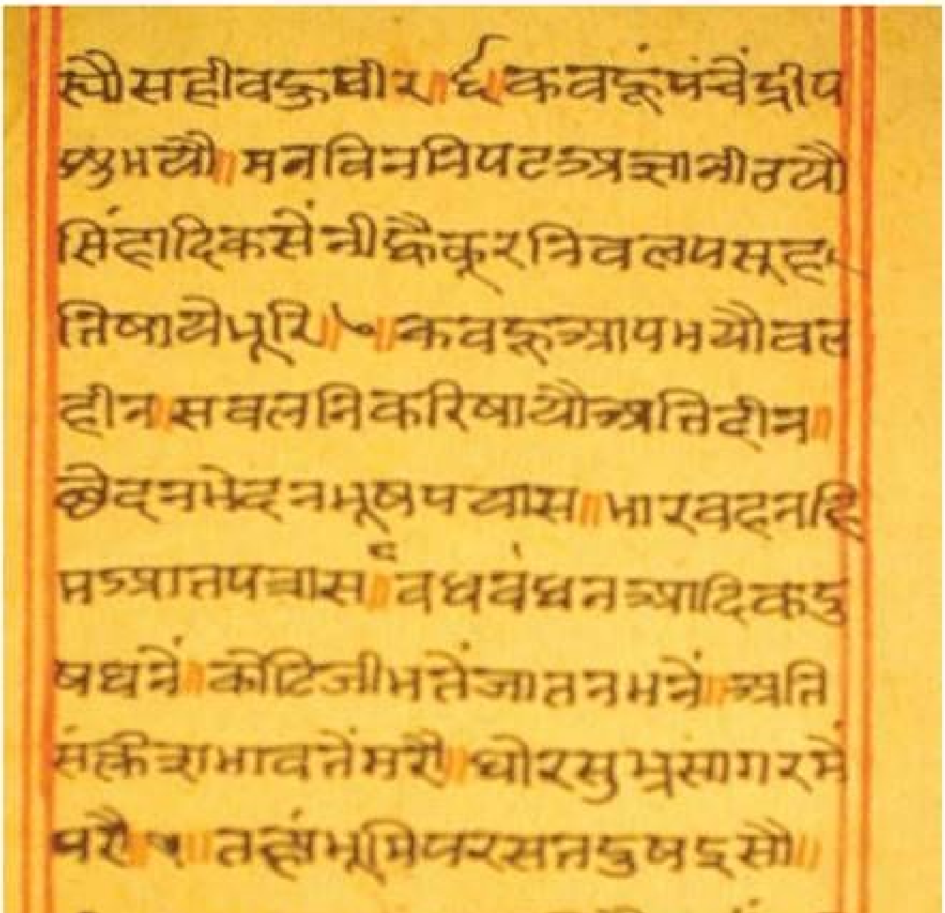

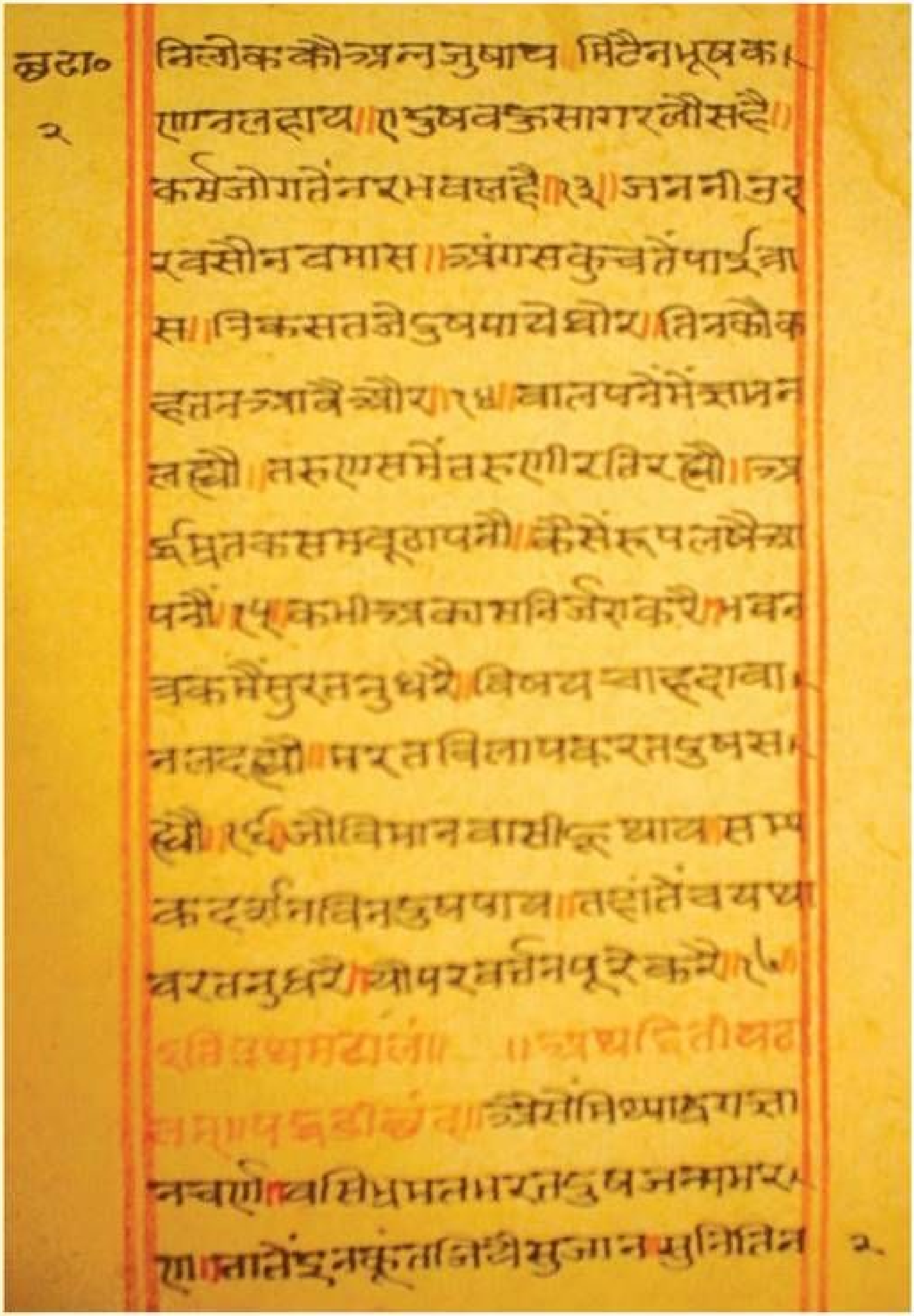

छ्ढा० तिर्लोक कौ अन्न जु षाय ॥ मिटै न भूष कं
२ णा न लहाय ॥ ए दुष बहु सागर लौं सहै ॥
कर्म जोग तें नर भव लहै ॥ ३ ॥ जननी उद
र वसौ नव मास ॥ अंग सकुच तें पाई त्रा
स ॥ निकसत जे दुष पाये घोर ॥ तिनको क
हत न आवै ओर ॥ ४ ॥ बालपने में ज्ञान न
लह्यौ ॥ तरुण समें तरुणी रति रह्यौ ॥ अ
र्द्ध मृतक सम बूढापनौ ॥ कैसें रूप लषे आ
पनौ ॥ ५ ॥ कभी अकाम निर्जरा करै ॥ भवन
त्रिक मैं सुर तनु धरै ॥ विषय चाह दावा
नल दह्यौ ॥ मरत विलाप करत दुष स
ह्यौ ॥ ६ ॥ जो विमानवासी हू थाय ॥ सम्य
क दर्शन बिन दुष पाय ॥ तहां तें चय थाव
र तनु धरै ॥ यौं परवर्तन पूरे करै ॥ ७ ॥
इति प्रथम ढाल ॥ ॥ अथ द्वितीय ढा
ल ॥ पद्धरी छंद ॥ ऐसें मिथ्या दृग ज्ञा
न चर्ण ॥ वसि भ्रमत भरत दुष जन्म मर
ण ॥ तातें इनकूं तजिये सुजान ॥ सुनि तिन २

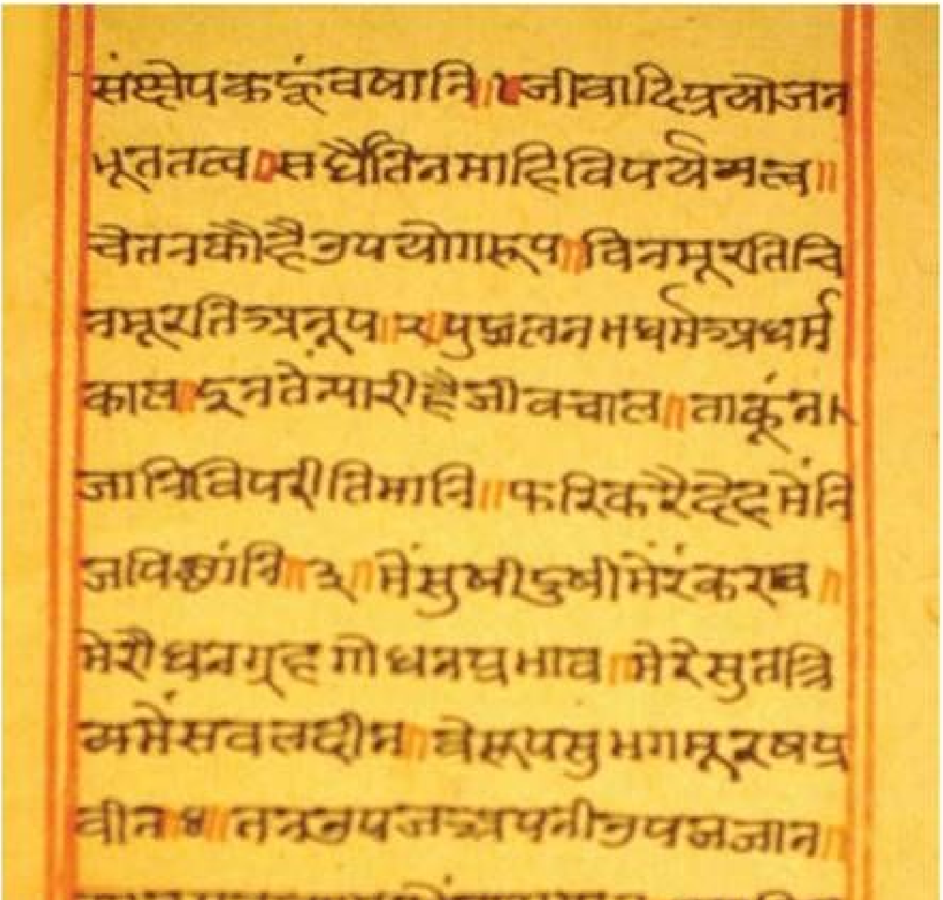
संक्षेपकहूंवखानि ॥ जीवादिप्रयोजन
भूततत्व ॥ सर्धैतिनमाहिविपर्ययत्व ॥
चेतनकौहैउपयोगरूप ॥ विनमूरतिचि
नमूरतिअनूप ॥ पुद्गलनभधर्मअधर्म
काल ॥ इनतेंन्यारीहैजीवचाल ॥ ताकूंन
जानिविपरीतिमानि ॥ करिकरैदेहमेंनि
जपिछांनि ॥ मैंसुखीदुखीमैंरंकराव ॥
मेरौधनगृहगोधनप्रभाव ॥ मेरेसुततिय
मैंसबलदीन ॥ वेरूपसुभगमूरखप्र
वीन ॥ तनउपजतअपनीउपजजान ॥
तननसतआपकौनाशमान ॥ रागादिप्र
गटयेदुःखदैन ॥ तिनहीकूंसेवतगिनतचै
न ॥ शुभअशुभबंधकेफलमझार ॥
रतिअरतिकरैनिजपदविसारि ॥ आत
महितहेतविरागज्ञान ॥ तेलखैआपकौ
कष्टदान ॥ रोकीनचाहनिजशक्ति
खोय ॥ शिवरूपनिराकुलतानजोय ॥ या
हीप्रतीतिजुतकछुकज्ञान ॥ सोदुखदाई ॥

हस्तलिखित

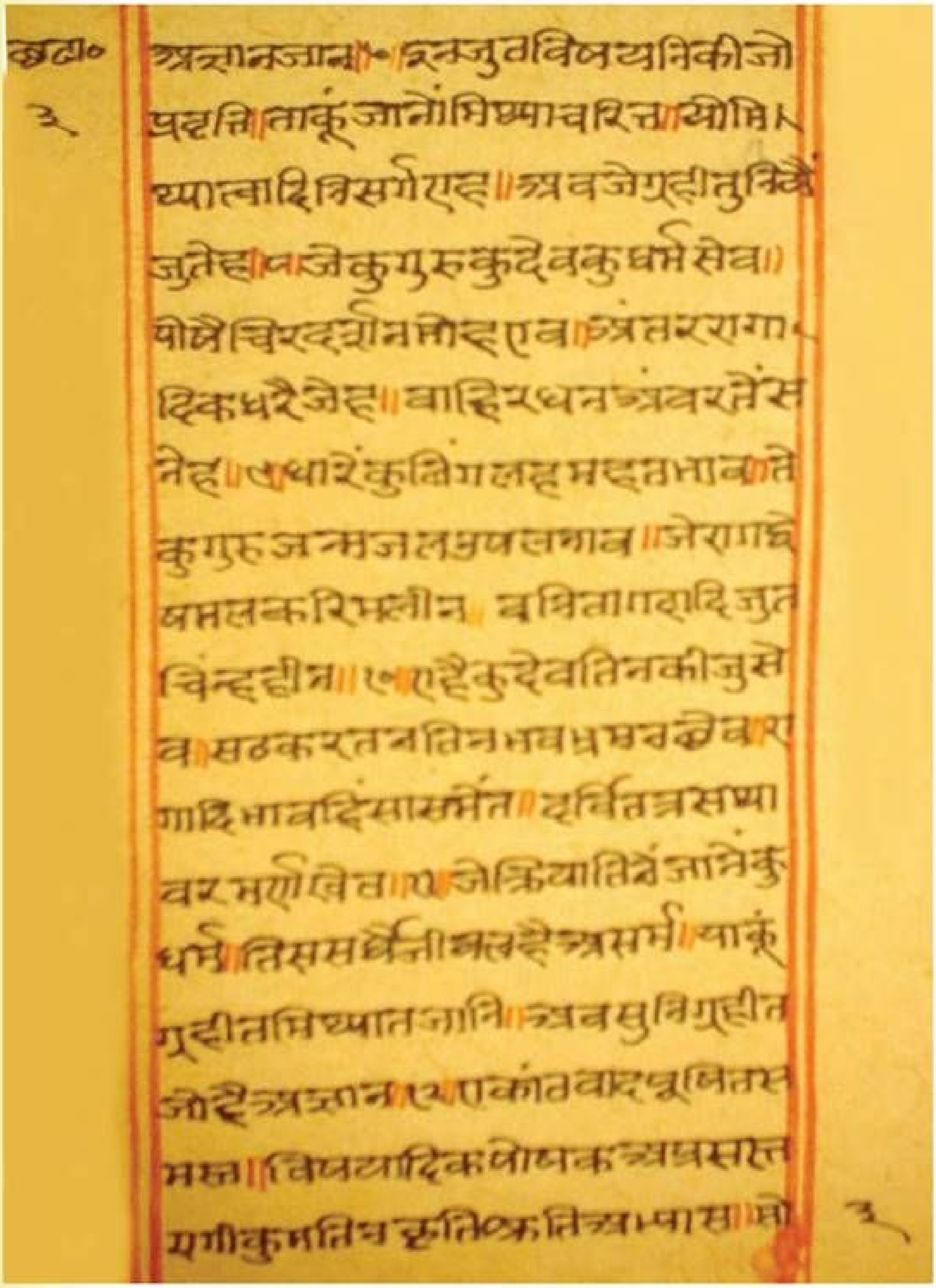

छढा० अत्मानज्ञान॥६॥ इन जुत विषयनि की जो
३ प्रवृत्ति ताकूं जानों मिथ्याचरित्त॥ यों मि-
थ्यात्वादि निसर्ग एह॥ अब जे गृहीत सुनियें
जु तेह॥७॥ जे कुगुरु कुदेव कुधर्म सेव॥
पोषैं चिर दर्शनमोह एव॥ अंतर रागा-
दिक धरैं जेह॥ बाहिर धन अंबरतें स-
नेह॥ धारैं कुलिंग लहि महत भाव॥ ते
कुगुरु जन्मजल उपल नाव॥ जे रागद्वे-
ष मलकरि मलीन॥ वनिता गदादि जुत
चिन्ह चीन॥ ९॥ ए हैं कुदेव तिनकी जु से-
व॥ सठ करत न तिन भवभ्रमण छेव॥ रा-
गादि भाव हिंसा समेत॥ दर्वित त्रस था-
वर मरण खेत॥१०॥ जे क्रिया तिन्हें जानें कु-
धर्म॥ तिन सरधैं जीव लहै असर्म॥ याकूं
गृहीत मिथ्यात जानि॥ अब सु निगृहीत
जो है अज्ञान॥११॥ एकांतवाद दूषित स-
मस्त॥ विषयादिक पोषक अप्रसस्त॥
रागी कुमतिन कृत श्रुतअभ्यास॥ सो ३

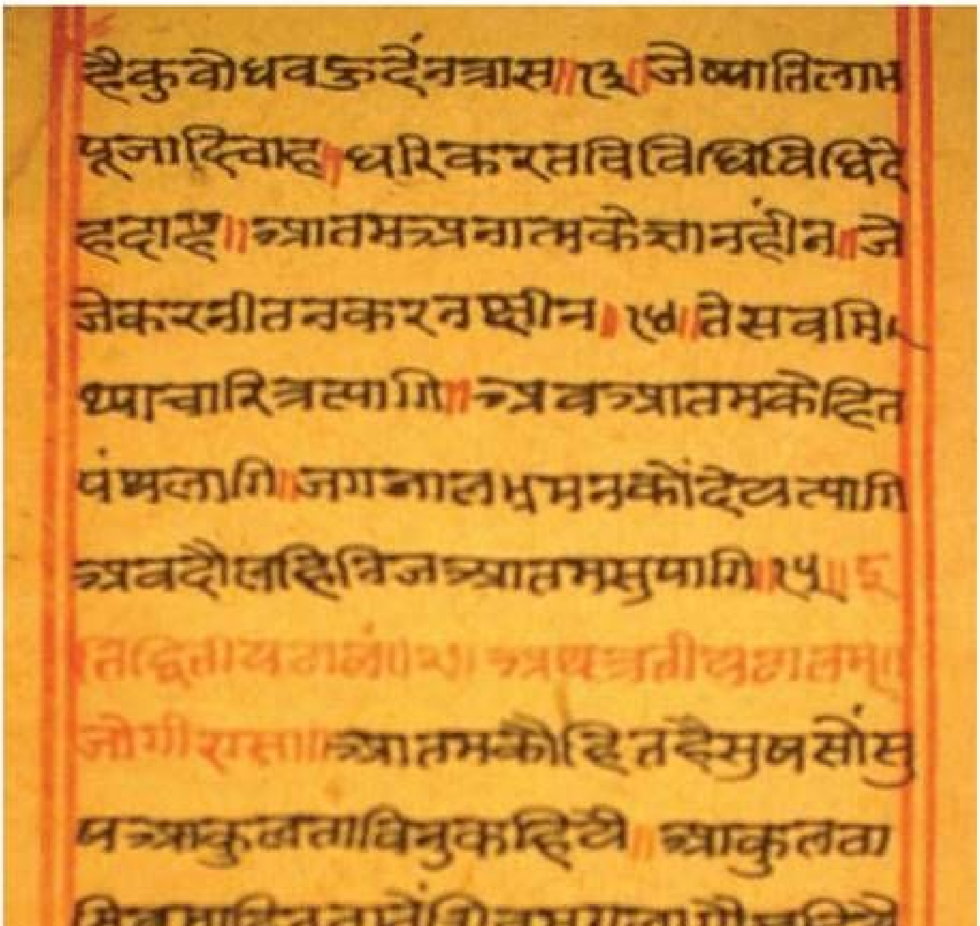
है कुबोध वकुर्दैं न त्रास ॥ ४ ॥ जे ख्याति लाभ
पूजादि चाह ॥ धरि करत विविधविध दे
ह दाह ॥ आतम अनात्म के ज्ञान हीन ॥ जे
जे करनी तन करन छीन ॥ ५ ॥ ते सब मि
थ्याचारित्र त्यागि ॥ अब आतम के हित
पंथ लागि ॥ जग जाल भ्रमन कों देय त्यागि
अब दौलत निज आतम सुपागि ॥ ५ ॥ इ
ति द्वितीय ढाल ॥ २ ॥ अथ त्रतीय ढाल म
जोगी रासा ॥ आतम को हित है सुख सो सु
ख आकुलता बिनु कहिये ॥ आकुलता
शिव मांहि न तातें शिवमग लागो चहिये
सम्यक् दर्शन ज्ञान चरण शिवमग सो दु
विधि विचारो ॥ जो सत्यारथ रूप सु निश्चै
कारन सो व्यवहारो ॥ १ ॥ परद्रव्यनतें भिन्न
आपमें रुचि सम्यक्त भला है ॥ आपरूप को
जानपनौं सो सम्यक ज्ञान कला है ॥ आ
परूप में लीन रहे थिर सम्यक् चारित सो
ई ॥ अब व्यवहार मोखमग सुनिये हेतु नि

ह
स्त
लि
खि
त

छ ह ढा ला

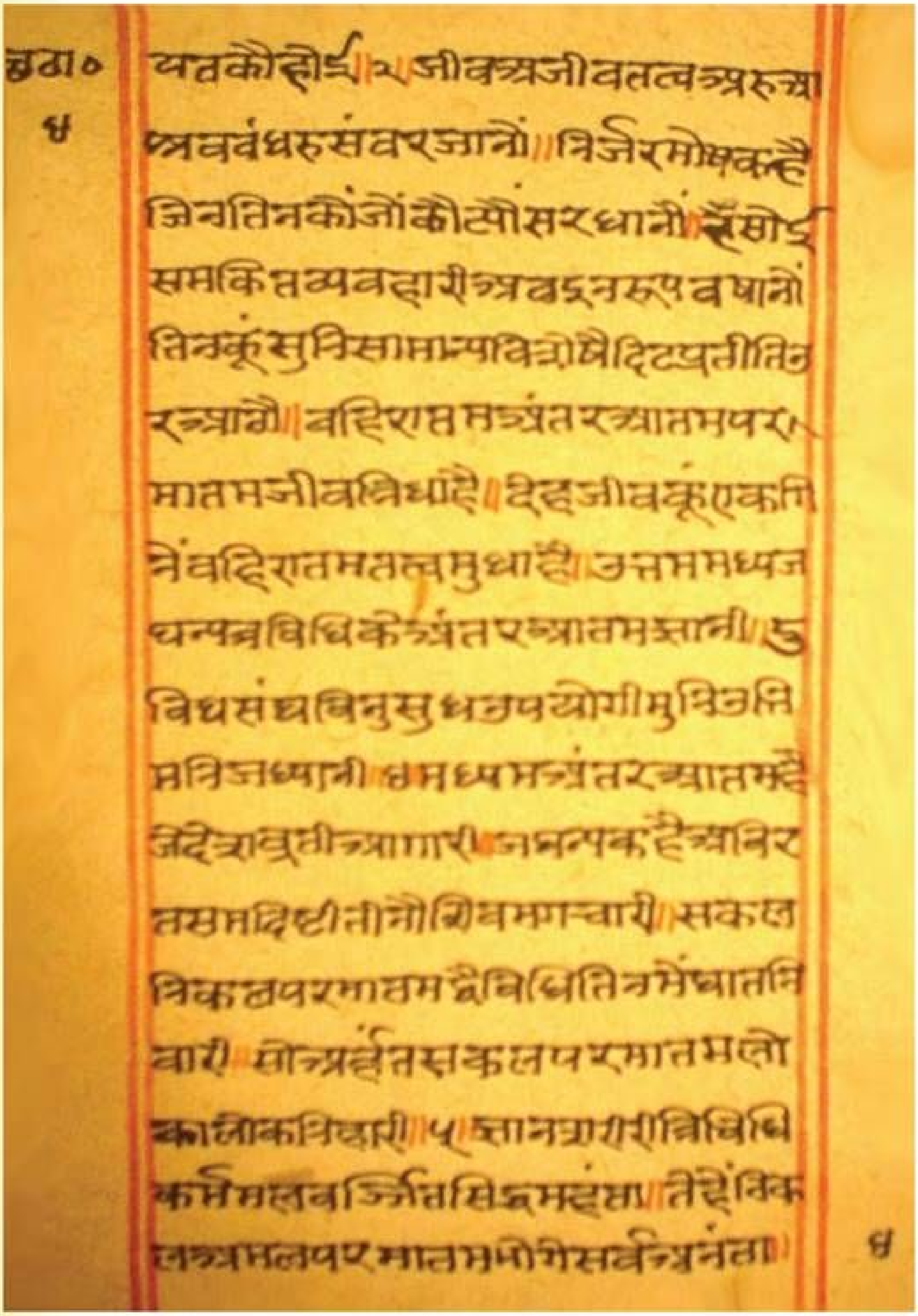
छढा०
५
यतकोहोई॥२॥जीवअजीवतत्वअरुआ
श्रववंधरुसंवरजानों॥निर्जरमोक्षकहै
जिनतिनकोंजोंकोंसोंसरधानों॥हैसोई
समकितव्यवहारीअवइनरूपवषानों
तिनकूंसुनिसामान्यविशेषैदिढप्रतीतिउ
रआनो॥वहिरातमअंतरआतमपर
मातमजीवत्रिधाहै॥देहजीवकूंएकगि
नेंवहिरातमतत्वमुधाहै॥उत्तममध्यज
घन्यत्रिविधिकेअंतरआतमज्ञानी॥दु
विधसंगविनुसुधउपयोगीमुनिउत्ति
मनिजध्यानी॥मधममअंतरआतमहै
जेदेशव्रतीअणगारी॥जघन्यकहेअविर
तसमदिष्टीतीनोंशिवमगचारी॥सकल
निकलपरमातमद्वैविधितिनमेंघातनि
वारी॥श्रीअरिहंतसकलपरमातमलो
कालोकनिहारी॥५॥ज्ञानशरीरीत्रिविधि
कर्ममलवर्जितसिद्धमहंता॥तेहैंनिक
लअमलपरमातमभोगैसर्वअनंता॥ ५

ह स्त लि खि त

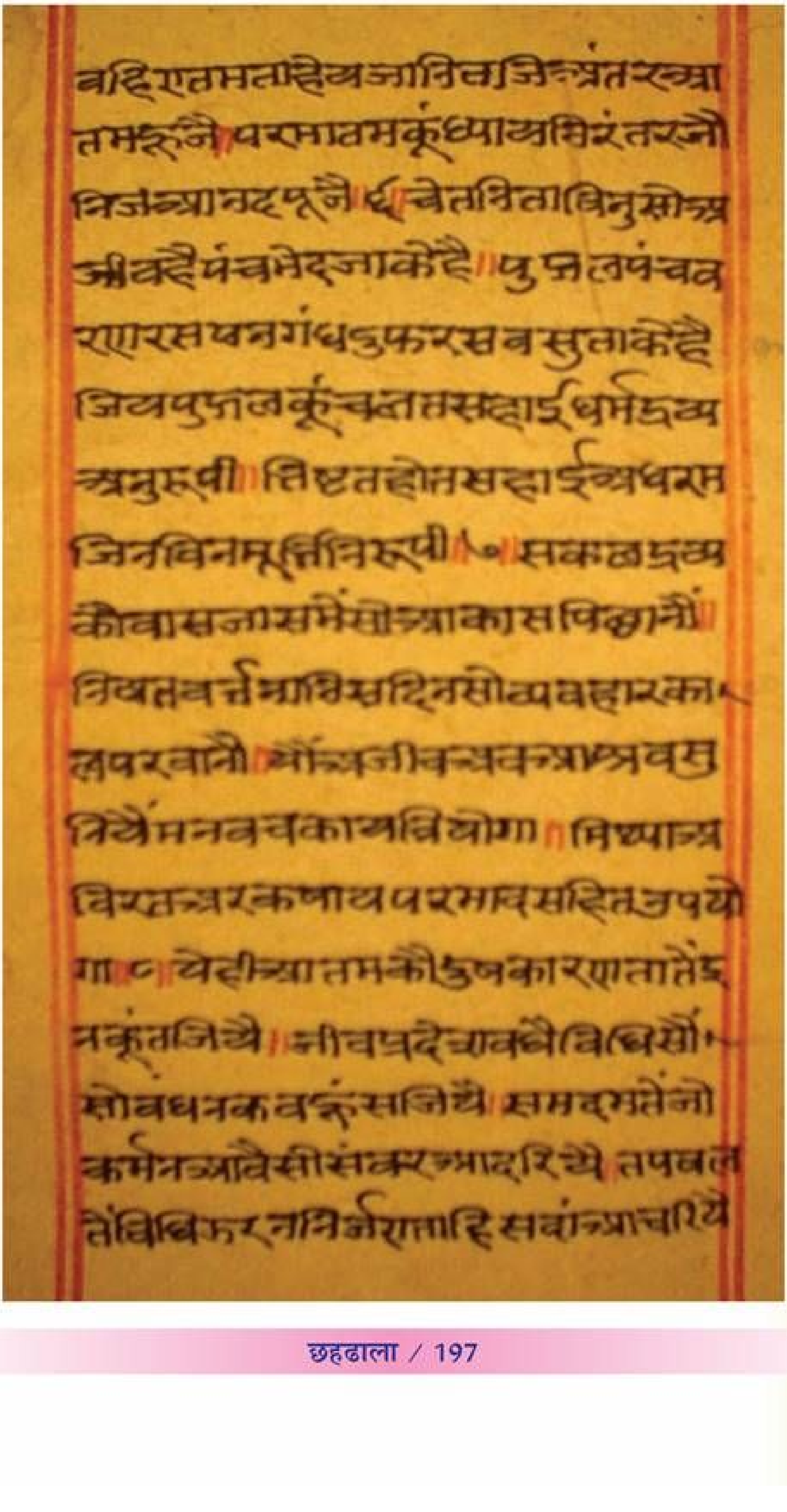
बहिरातमताहेयजानितजिअंतरआ
तमहूजै॥परमातमकूंध्यायनिरंतरजो
निजआनंदपूजै॥६॥चेतनताबिनुसोअ
जीवहैपंचभेदजाकेहै॥पुद्गलपंचव
रणरसपनगंधदुफरसवसुजाकेहै
जियपुद्गलकूंचलतसहाईधर्मद्रव्य
अनुरूपी॥तिष्टतहोतसहाईअधरम
जिनविनमूर्त्तिनिरूपी॥७॥सकलद्रव्य
कौवासजासमैसोआकासपिछानौं॥
नियतवर्त्तनानिसदिनसोव्यवहारका
लपरवानौ॥यौंअजीवअबआस्रवसु
नियेंमनवचकायत्रियोगा॥मिथ्याअ
विरतअरकषायपरमादसहितउपयो
गा॥९॥येहीआतमकौदुखकारणतातैंइ
नकूंतजियै॥जीवप्रदेसबंधैविधिसौं
सोबंधनकबहूंनसजियै॥समदमतैंजो
कर्मनआवैसोसंवरआदरियै॥तपबल
तैंविधिझरननिर्जराताहिसदाआचरियै

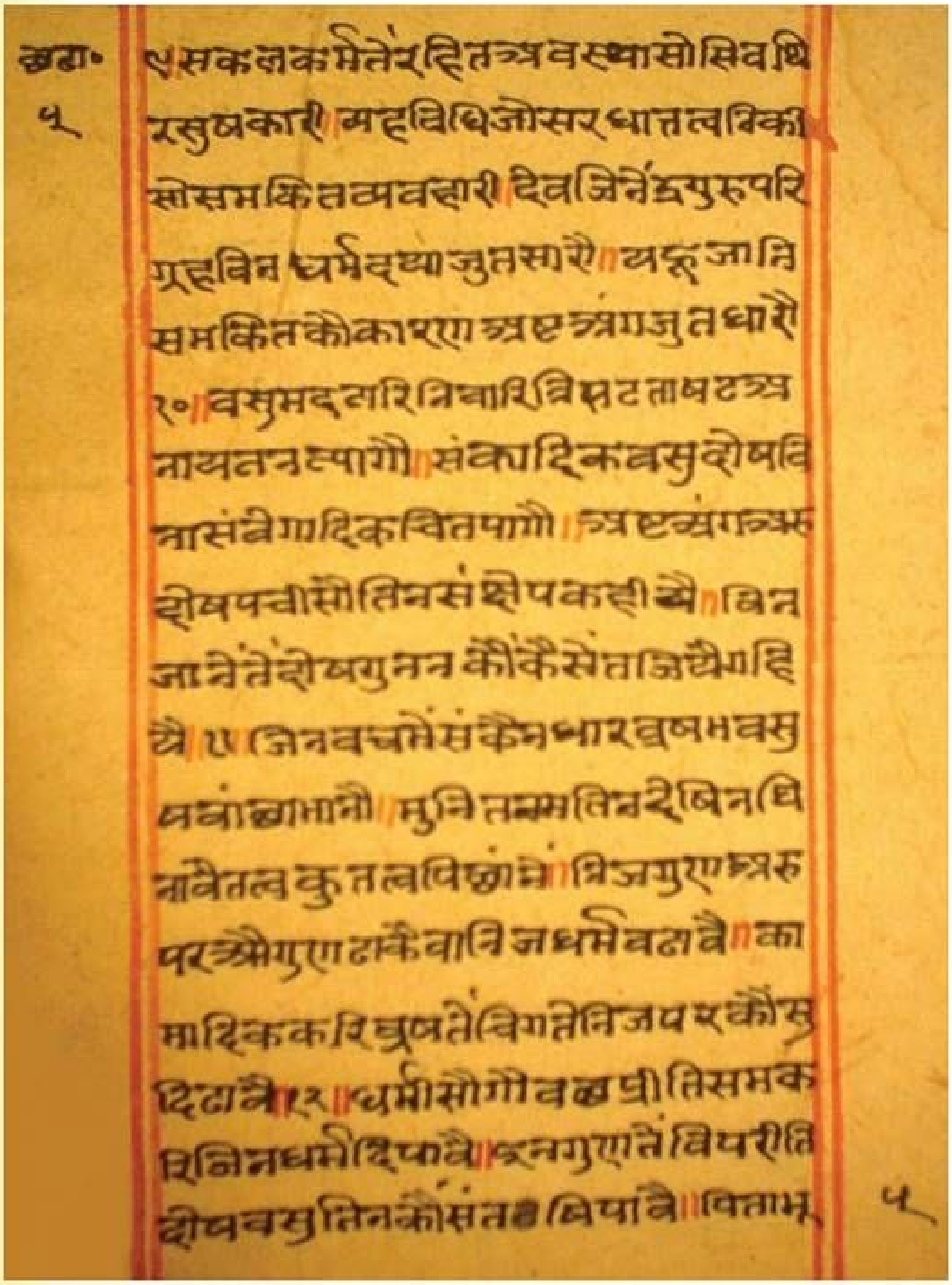
छढा॰ ५ ९॥सकलकर्मतेंरहितअवस्थासोसिवथि
रसुषकारी॥इहविधिजोसरधातत्त्वकी
सोसमकितव्यवहारी॥देवजिनेंद्रगुरुपरि
ग्रहविनधर्मदयाजुतसारो॥यहुजानि
समकितकोकारणअष्टअंगजुतधारो
१०॥वसुमदटारिनिवारित्रिसठताषटअ
नायतनत्यागो॥संकादिकवसुदोषवि
नासंवेगादिकचितपागो॥अष्टअंगअरु
दोषपचीसोंतिनसंक्षेपकहीजै॥विन
जानेंतेंदोषगुननकौंकैसेंतजियैगहि
यै॥११॥जिनवचमेंसंकैनधारवृषभवसु
षवांछाभानै॥मुनितनमलिनदेखिनघि
नावैतत्त्वकुतत्त्वपिछानै॥निजगुणअरु
परऔगुणढांकैवानिजधर्मबढावै॥का
मादिककरिवृषतेंचिगतेनिजपरकौंसु
दिढावै॥१२॥धर्मीसोंगौवछप्रीतिसमक
रिजिनधर्मदिपावै॥इनगुणतेंविपरीति
दोषवसुतिनकौंसत[illegible]षिपावै॥पिताभू ५

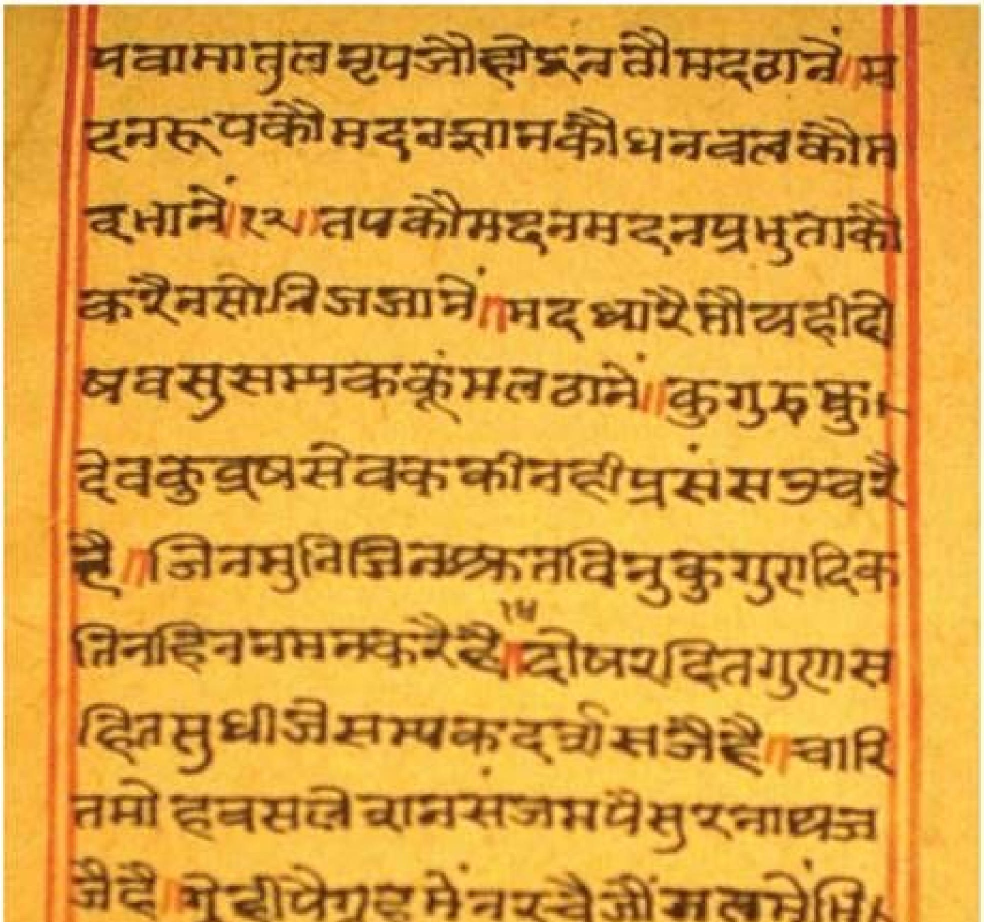
पवामातुलनृपजोहोयनतौमदठानें॥म
दनरूपकोमदनज्ञानकोधनबलकोम
दभानें॥१४॥तपकोमदनमदनप्रभुताको
करैनसोनिजजानें॥मदधारैतौयहीदो
षवसुसम्यक्कूंमलठानें॥कुगुरुकु
देवकुवृषसेवककीनहींप्रसंसउचरै
है॥जिनमुनिजिनश्रुतविनुकुगुरादिक
तिनहिनमनकरैहैं॥१५॥दोषरहितगुणस
हितसुधीजेसम्यकदर्शसजेहैं॥चारि
तमोहवसलेशनसंजमपैसुरनाथज
जेहैं॥गेहीपेगृहमेंनरचैज्यौंजलतेंभि
न्नकमलहै॥नगरनारिकोप्यारजथा
कादेमेंहेमअमलहै॥१६॥प्रथमनर्क
विनषटभूजोतिसवाणभवनसंढनारी
थावरविकलत्रयपशुमेंनहींउपज
तसम्यकधारी॥तीनिलोकतिहुंकाल
माहिंनहींदर्शनसोसुखकारी॥सकलध
रमकोमूलयहीइसबिनकरनीदुखका-

हस्तलिखित

छ

ह

ढा

ला

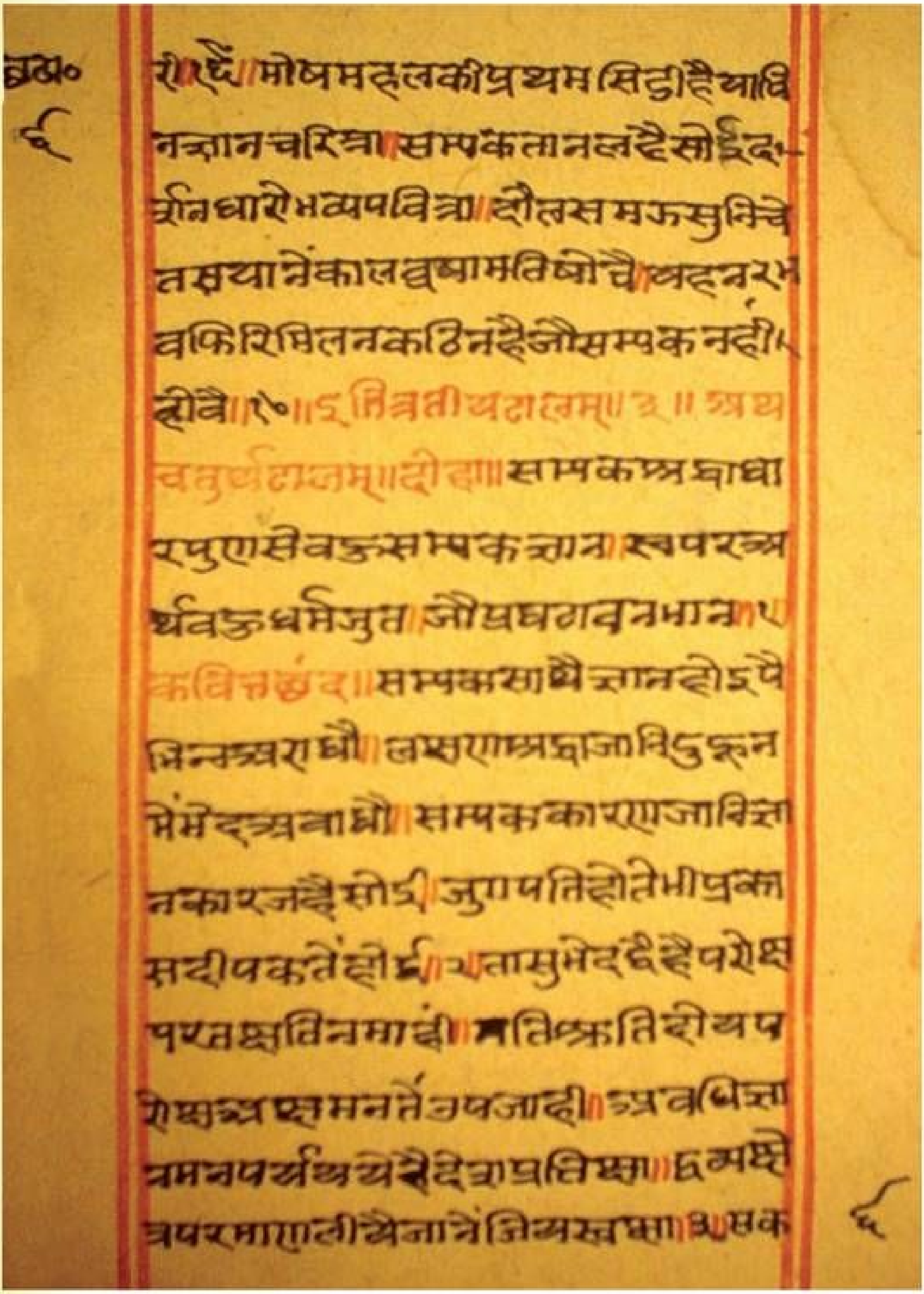

छ०ढा० ६

री॥१७॥ मोषमहलकी प्रथम सिढी है या वि
न ज्ञान चरित्रा॥ सम्यकता न लहै सो द-
र्शन धारो भव्य पवित्रा॥ दौल समझ सुनि चे-
त सयाने काल वृथा मति खोवै॥ यह नरभ-
व फिरि मिलन कठिन है जो सम्यक नहीं॥
होवै॥१७॥ इति त्रितीय ढाल॥३॥ अथ
चतुर्थ ढाल॥ दोहा॥ सम्यक श्रद्धा धा-
रि पुनि सेवहु सम्यक ज्ञान॥ स्वपर अ-
र्थ बहु धर्मजुत॥ जो प्रगटावन भान॥१॥
कवित्त छंद॥ सम्यक साथै ज्ञान होइ पै
भिन्न अराधौ॥ लक्षण श्रद्धा जानि दुहून
मैं भेद अबाधौ॥ सम्यक कारण जानि ज्ञा
न कारज है सोई॥ जुगपति होते भी प्रका
स दीपकतैं होई॥२॥ तासु भेद दो हैं परोक्ष
परतक्ष तिन मांही॥ मति श्रुति दोय प
रोक्ष अक्ष मनतैं उपजाही॥ अवधिज्ञा
न मनपर्जय दो हैं देश प्रतिक्षा॥ द्रव्य क्षे
त्र परमाण लिये जानै जिय स्वक्षा॥३॥ सक ६

हस्तलिखित

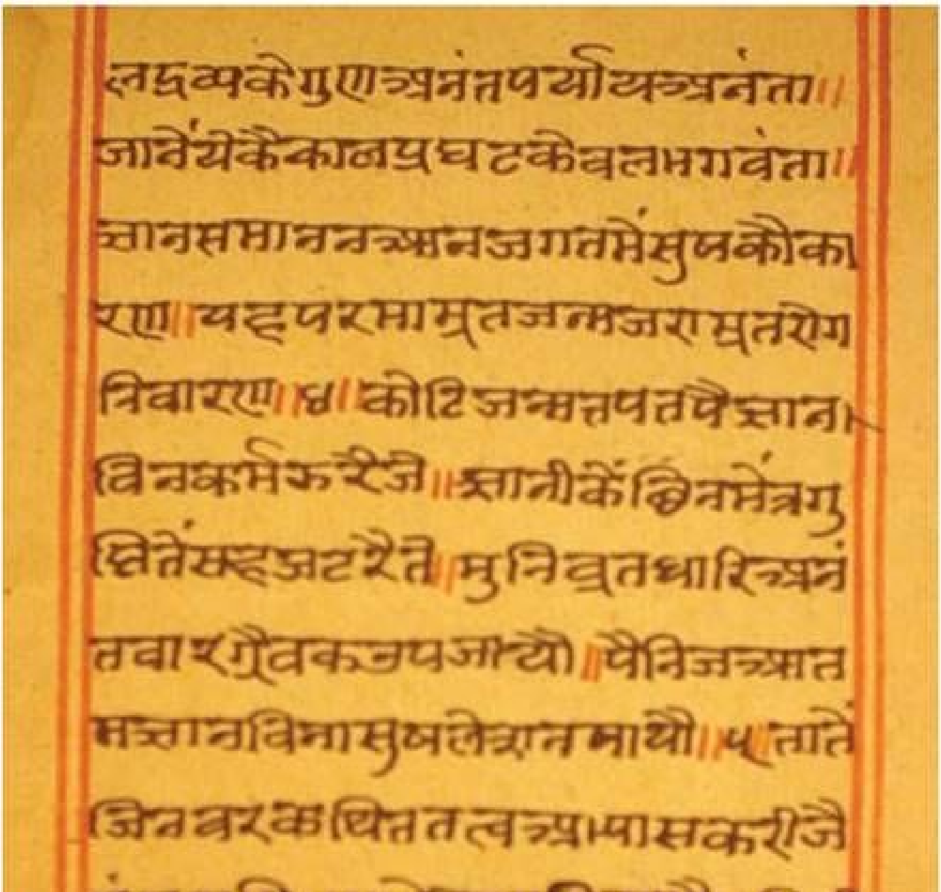
तद्रव्यके गुण अनंत पर्याय अनंता॥
जानैं एकै काल प्रघट केवल भगवंता॥
ज्ञान समान न आन जगत में सुख कौ का
रण॥ यह परमामृत जन्म जरा मृत रोग
निवारण॥४॥ कोटि जन्म तप तपैं ज्ञान
विन कर्म झरैं जे॥ ज्ञानी कें छिन में त्रिगु
प्ति तें सहज टरैं ते॥ मुनिव्रत धारि अनं
त बार ग्रैवक उपजायो॥ पै निज आत
म ज्ञान विना सुख लेश न पायो॥५॥ तातें
जिनवर कथित तत्त्व अभ्यास करीजे
संसय विभ्रम मोह त्यागि आपो लखि ली
जै॥ यह मानुष पर्याय सुकुल सुनिवौ
जिनवांनी॥ यह विधि गयें न मिलै सुमनि
जौ उदधि समानी॥६॥ धन समाज गज राज
बाज तौ काज न आवै॥ ज्ञान आपकौ
रूप भयौ फिर अचल रहावै॥ तासु ज्ञा
न कौ कारण स्वपर विवेक बखानौं॥
कोटि उपाय बनाय भव्य ताकौं उर आ

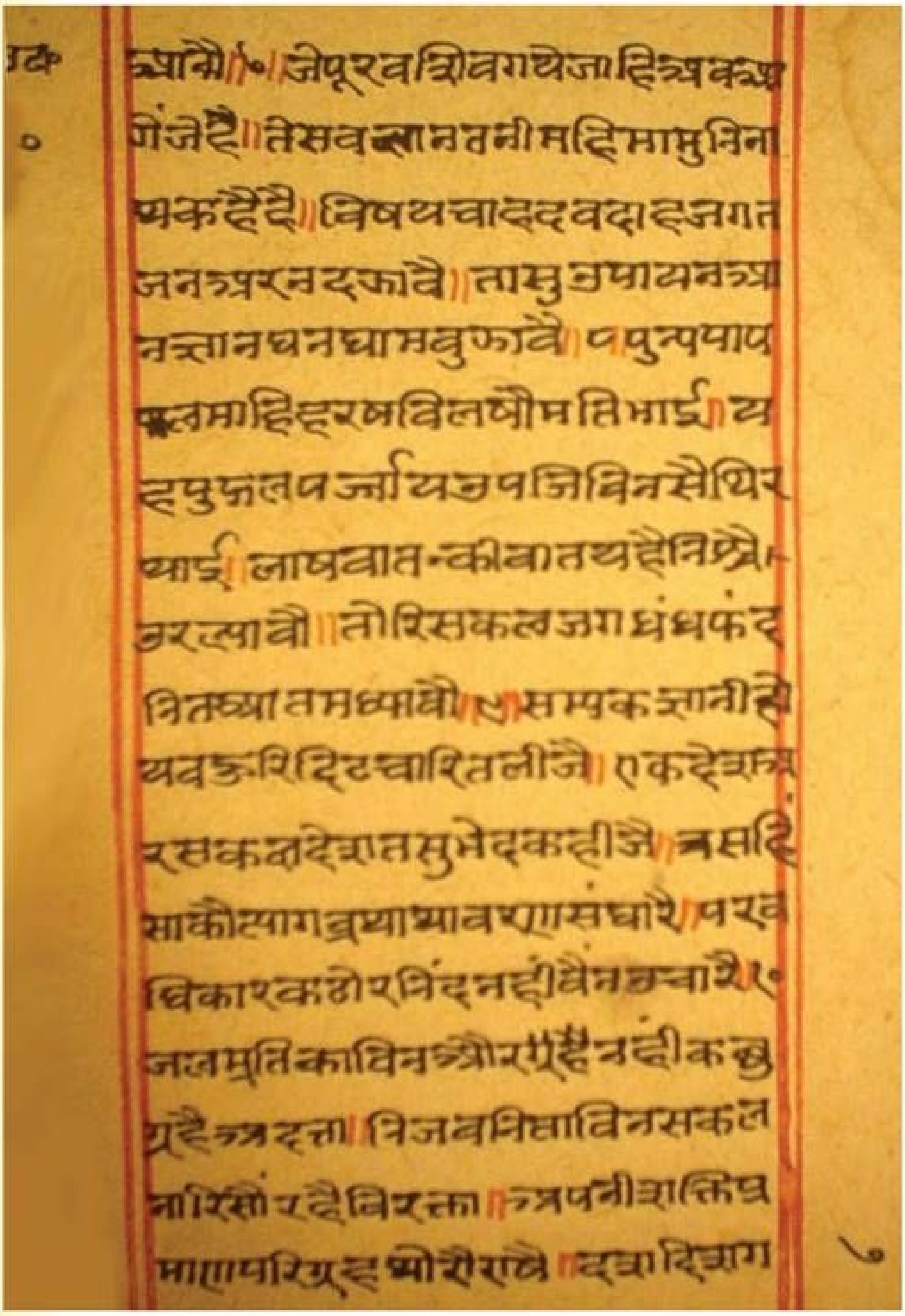

१८ आगे॥९॥जेपूरवशिवगयेजाहिअबआगे
जैहैं॥तेसबज्ञानतनीमहिमामुनिना
थकहैंहैं॥विषयचाहदवदाहजगत
जनअरनदझावै॥तासुउपायनआ
नज्ञानघनघानबुझावै॥१०॥पुन्यपाप
फलमाहिंहरखविलखौमतिभाई॥य
हपुद्गलपर्जायउपजिबिनसैथिर
थाई॥लाखबातकीबातयहैनिश्चैउ
रलावो॥तोरिसकलजगदंदफंद
नितआतमध्यावो॥११॥सम्यकज्ञानीहो
यबहुरिदिढचारितलीजै॥एकदेशअ
रुसकलदेशतसुभेदकहीजै॥त्रसहिं
साकोत्यागवृथाथावरनसंघारै॥परव
धकारकठोरनिंदनहिंवैनउचारै॥१२॥
जलमृतिकाबिनऔरनाहिंकछु
गहैअदत्ता॥निजवनिताबिनसकल
नारिसोंरहैविरत्ता॥अपनीशक्तिवि
चारपरिग्रहथोरोराखै॥दशदिशगम ८

हस्तलिखित

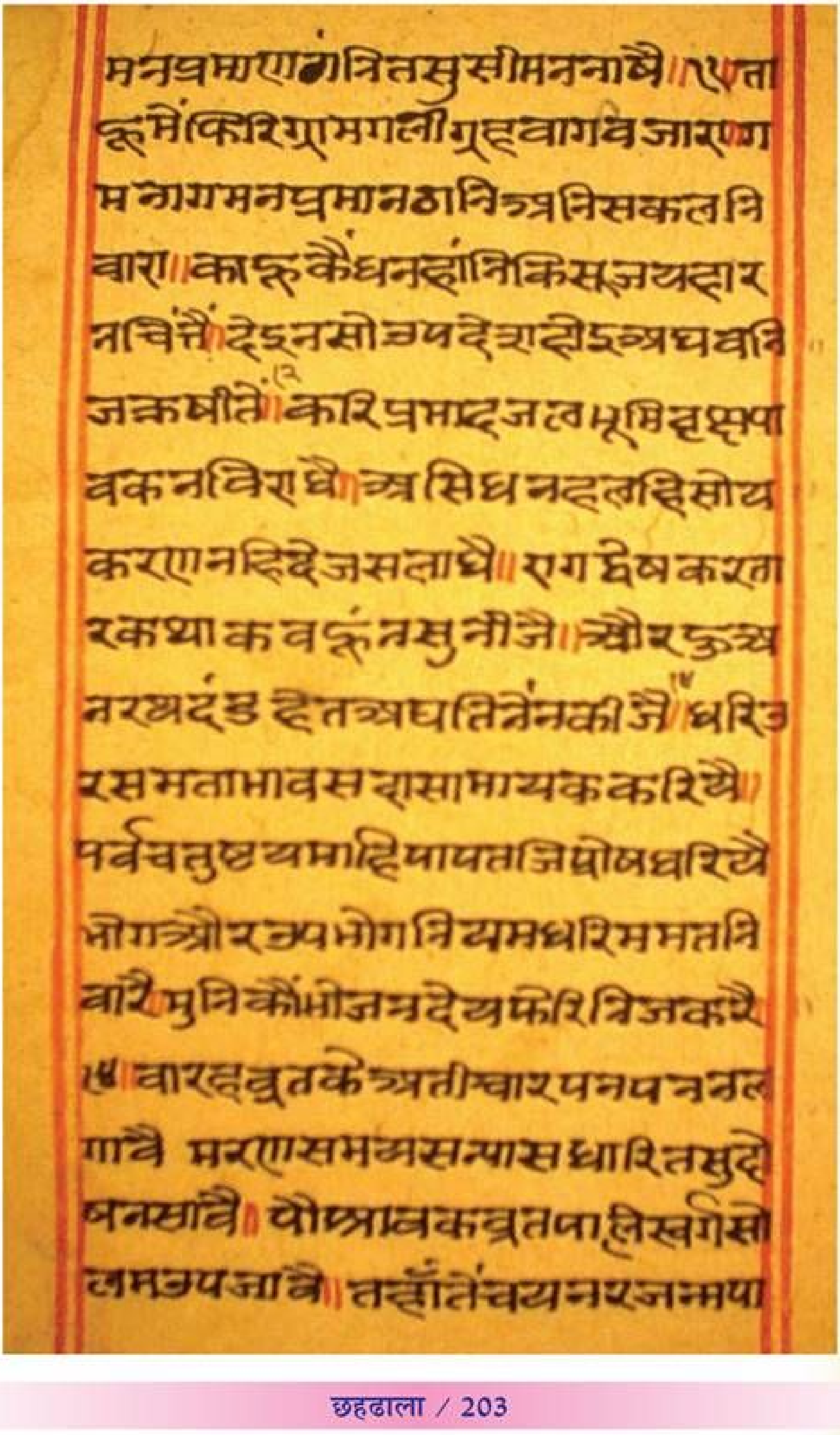
मनप्रमाणठानितसुसीमननाषै॥९॥ता
हूमेंफिरिग्रामगलीगृहबागबजारगा
मनागमनप्रमानठानिअनसकलनि
वारा॥ काहूकैंधनहानिकिसजयहार
नचिंतै॥ देइनसोउपदेशहोइअघवनि
जकृषीतें॥ करिप्रमादजलभूमिवृक्षपा
वकनविराधै॥ असिधनहलहिंसोप
करणनहिंदेजसलाधै॥ रागद्वेषकरता
रकथाकवहूंनसुनीजे॥ औरहुअ
नरथदंडहेतअघतिनैंनकीजे॥ धरिउ
रसमताभावसदासामायककरियै॥
पर्वचतुष्टयमाहिंपापतजिप्रोषधधरियै
भोगऔरउपभोगनियमधरिममतनि
वारै मुनिकौंभोजनदेयफेरिनिजकरै
॥ बारहव्रतकेअतीचारपनपननल
गावै मरणसमयसन्यासधारितसुदो
षनसावै॥ योंश्रावकव्रतपालिस्वर्गसो
लमउपजावै॥ तहांतेंचयनरजनमपा

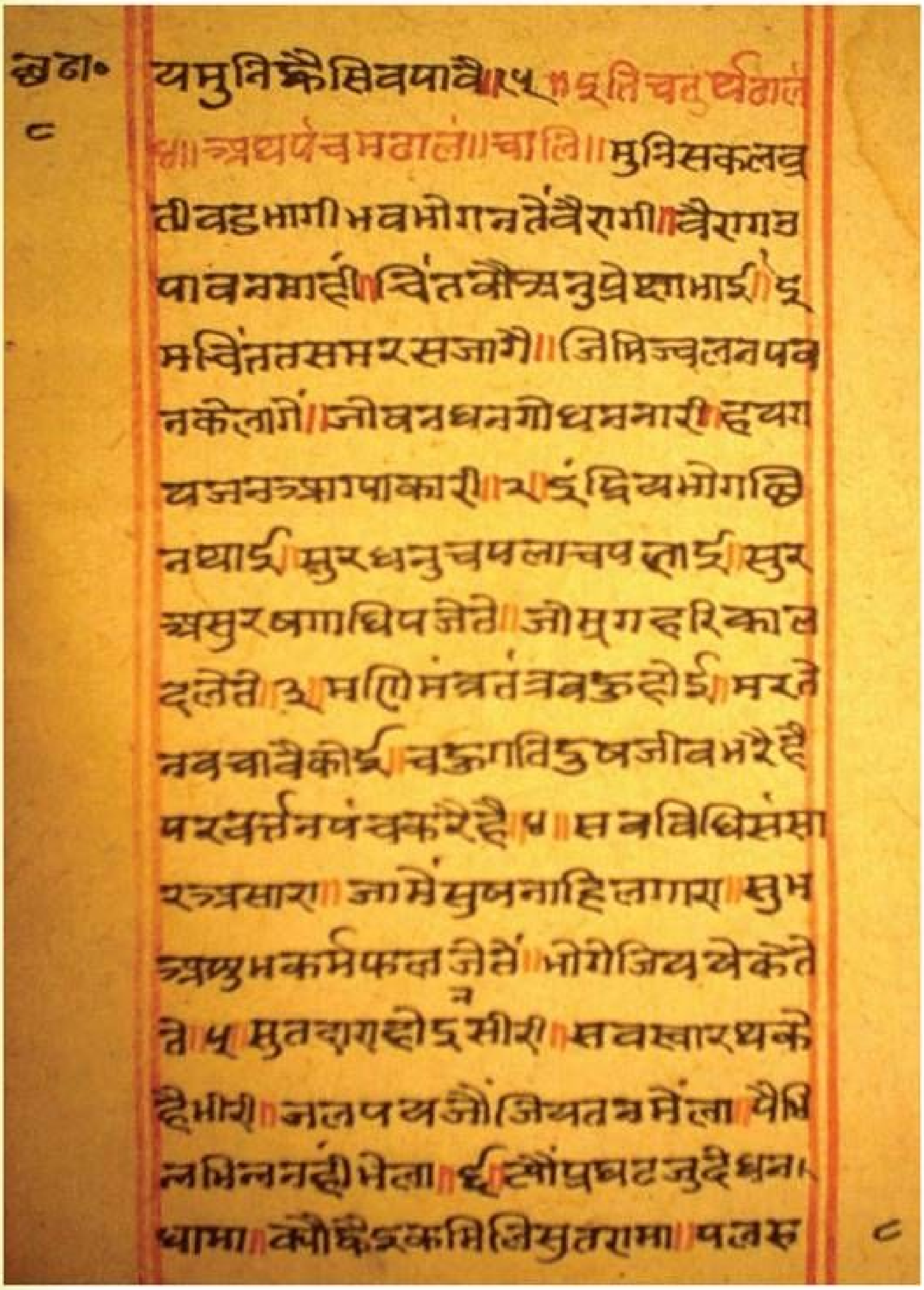
छ॰ढा॰ यमुनिह्वैशिवपावै॥१५॥इतिचतुर्थढाल
८ ४॥अथपंचमढाल॥चालि॥मुनिसकलव्र
तीबडभागी।भवभोगनतैंवैरागी॥वैराग्यउ
पावनमाई॥चिंतैअनुप्रेक्षाभाई॥इ
नचिंततसमसुखजागै॥जिमिज्वलनपव
नकेलागै॥जोबनगृहगोधननारी॥हयग
यजनआज्ञाकारी॥इंद्रियभोगछि
नथाई॥सुरधनुचपलाचपलाई॥सुर
असुरखगाधिपजेते॥मृगज्योंहरिकाल
दलेते॥३॥मणिमंत्रतंत्रबहुहोई॥मरते
नबचावैकोई॥चहुंगतिदुखजीवभरैहै
परिवर्त्तनपंचकरैहै॥४॥सबविधिसंसा
रअसारा॥जामेंसुखनाहिलगारा॥सुभ
असुभकर्मफलजेतें॥भोगेजियएकहिते
तें॥५॥सुतदाराहोइनसीरी॥सबस्वारथके
हैभीरी॥जलपयज्योंजियतनमेंला॥पैभि
न्नभिन्ननहींभेला॥६॥तौंप्रगटजुदेधन
धामा॥क्योंह्वैइकमिलिसुतरामा॥पलरु ८

हस्तलिखित

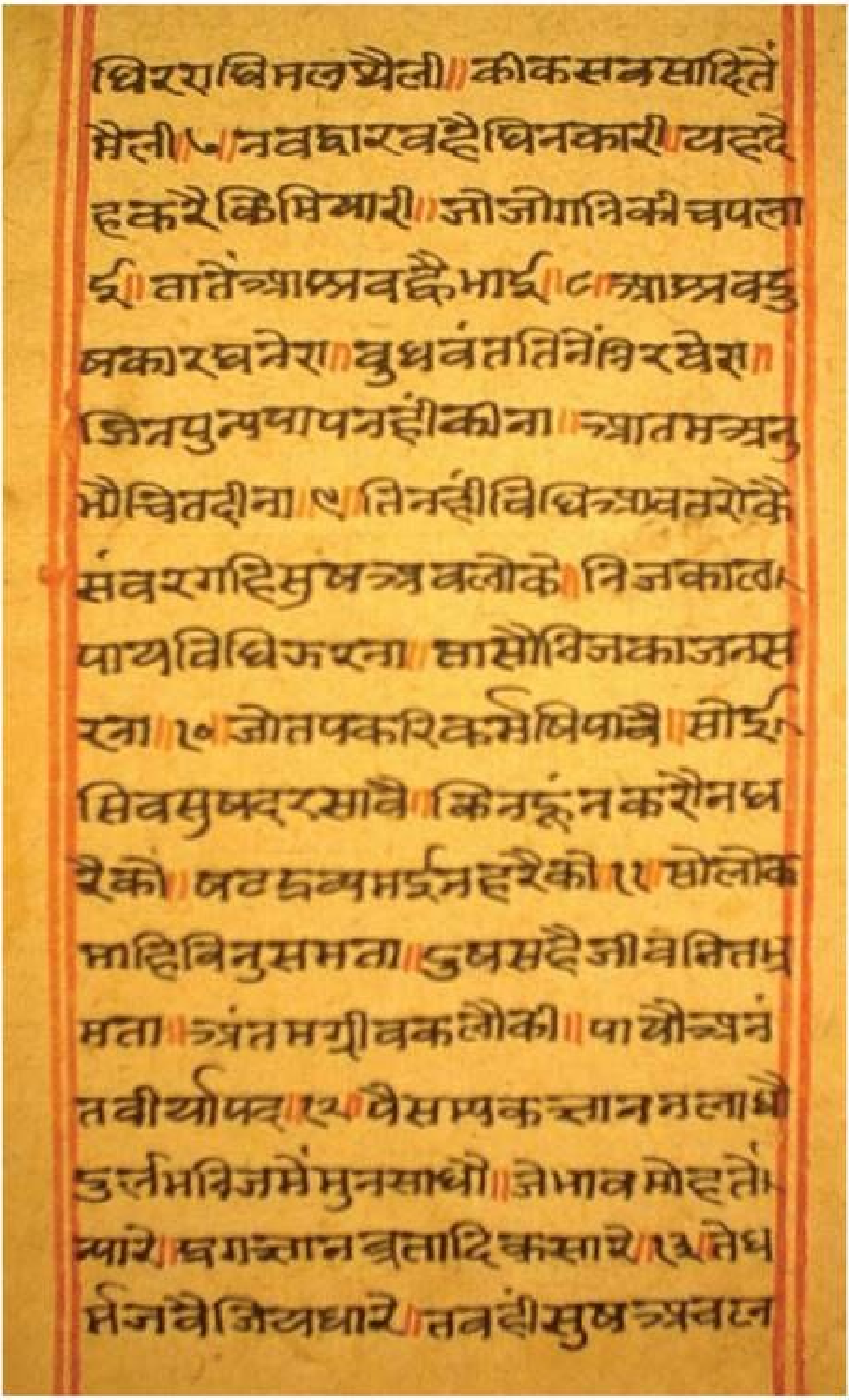
थिररहतिमलथैली॥कीकसवसादितें
मैली॥७॥नवद्वारवहैघिनकारी॥यहदे
हकरैकिमयारी॥जोजोगनिकीचपला
ई॥तातेंआस्रवह्वैभाई॥८॥आस्रवदु
षकारघनेरा॥बुधवंततिनेंनिरवेरा॥
जिनपुन्यपापनहींकीना॥आतमअनु
भौचितदीना॥९॥तिनहींविधिआवतरोके॥
संवरलहिसुषअवलोके॥निजकाल
पायविधिझरना॥तासौंनिजकाजनस
रना॥१०॥जोतपकरिकर्मषिपावै॥सोई
सिवसुषदरसावै॥किनहूंनकरौनध
रैको॥षटद्रव्यमईनहरैको॥११॥सोलोक
मांहिबिनुसमता॥दुषसहैजीवनितभ्र
मता॥अंतमग्रीवकलौंकी॥पायौअनं
तवीर्यापद॥१२॥पैसम्यकज्ञाननलाधौ
दुर्लभनिजमेंमुनसाधौ॥जेभावमोहतें
न्यारे॥दृगज्ञानव्रतादिकसारे॥१३॥तेध
र्मजवैजियधारै॥तवहीसुषअचलनि

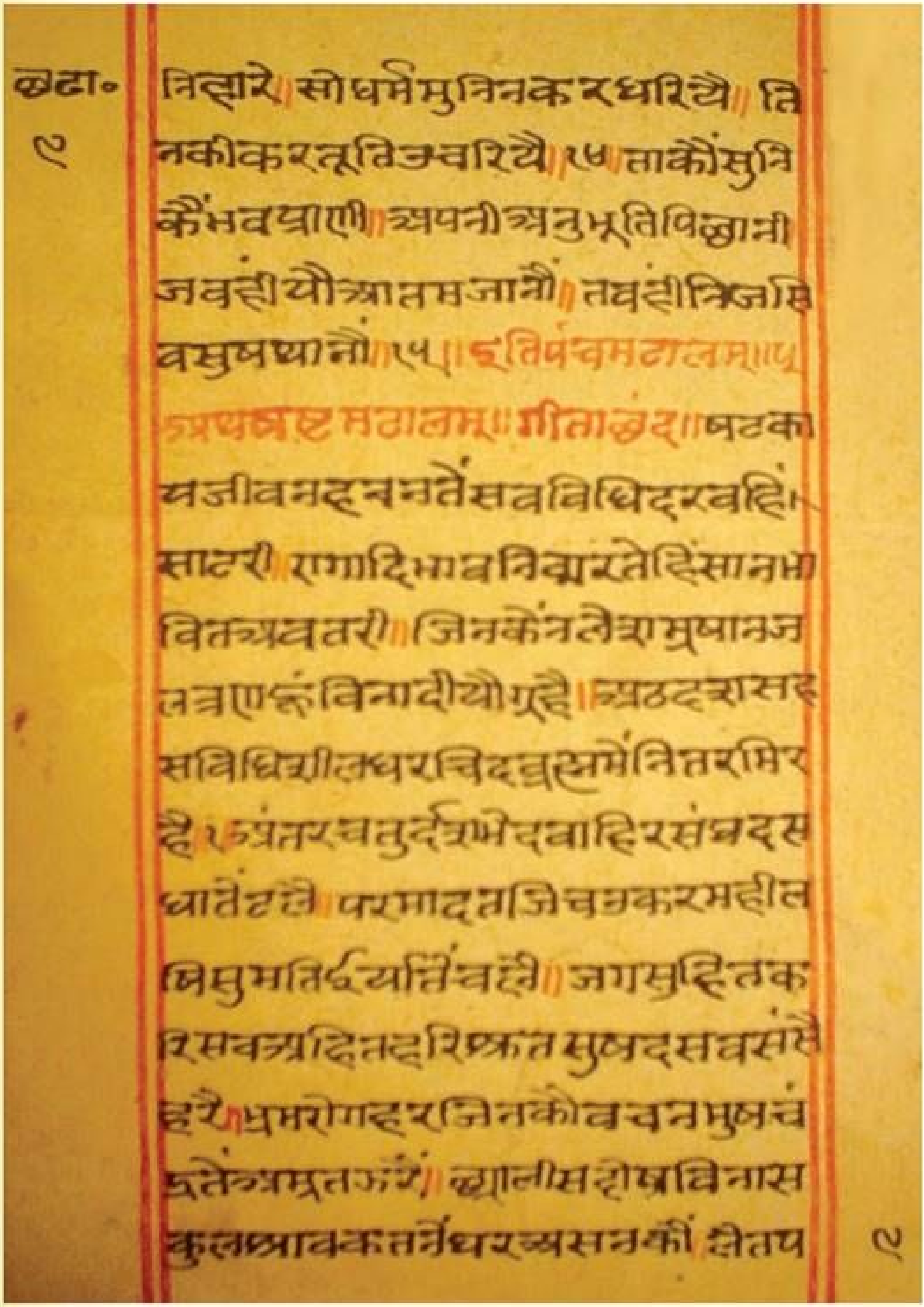

छढा॰ निहारे॥ सो धर्म मुनिनकर धरिये॥ ति
९ नकी करतूति उचरिये॥ १४॥ ताकौं सुनि
कैं भवप्राणी॥ अपनी अनुभूति पिछानी॥
जब ही यौ आतम जानैं॥ तब ही निज सि
व सुख ठानैं॥ १५॥ इति पंचम ढाल॥ ५॥
अथ षष्टम ढाल॥ गीता छंद॥ षटका
य जीव न हनन तें सब विधि दरब हिं
सा टरी॥ रागादि भाव निवारतें हिंसा न भा
वित अवतरी॥ जिनकें न लेश मृषा न ज
ल तृण हू विना दीयो गहैं॥ अठदश सह
स विधि शील धर चिद्ब्रह्म में नित रमि र
हैं॥ १॥ अंतर चतुर्दश भेद बाहिर संग दस
धा तें टलैं॥ परमाद तजि चउ कर मही ल
खि सुमति ईर्या तें चलैं॥ जग सुहितक
र सब अहितहर श्रुति सुखद सब संसै
हरैं॥ भ्रम रोग हर जिनको वचन मुखचं
द्रतें अमृत झरैं॥ छ्यालीस दोष विना स
कुल श्रावक तनैं घर असन कौं॥ लैं तप ९

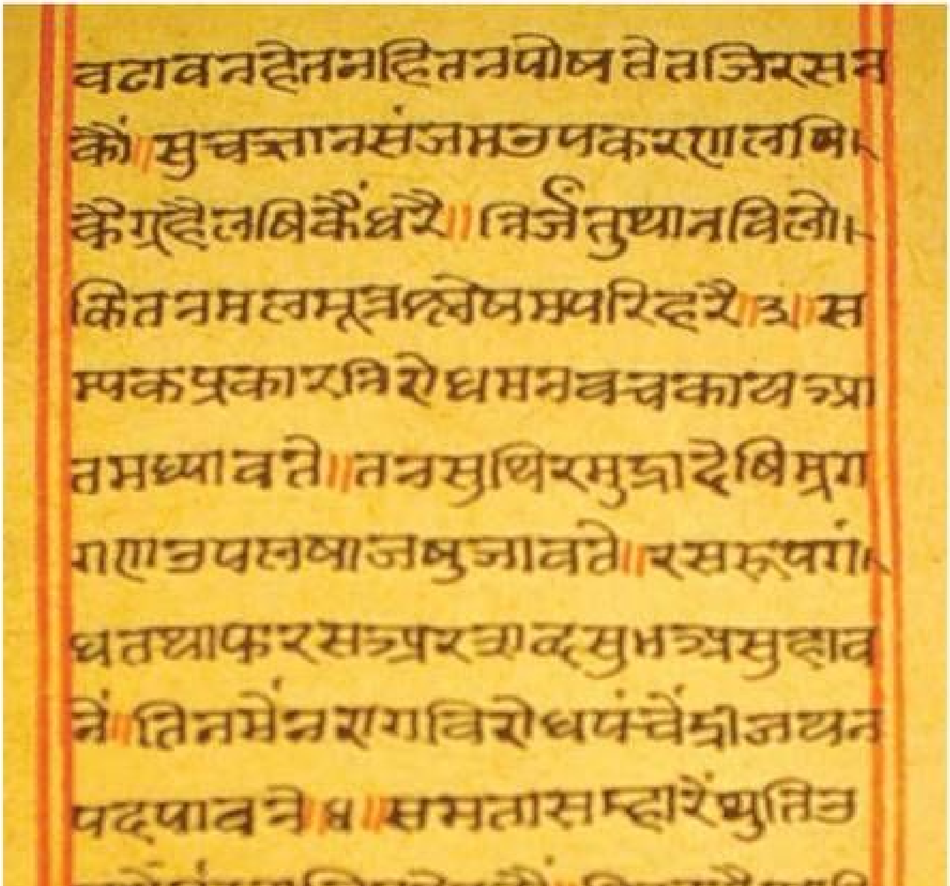
वढावनहेतनहितनपोषतेतजिरसन
कों॥सुचरनतानसंजमतपकरणोलखि॥
कैगहैलखिकैंधरैं॥निर्जंतुथानविलो॥
कितनमलमूत्रश्लेषमपरिहरैं॥३॥स
म्यकप्रकारनिरोधमनवचकायआ
तमध्यावतें॥तिनसुथिरमुद्रादेखिमृग
गणउपलखाजखुजावतें॥रसरूपगं॥
धतथाफरसअरुशब्दशुभअसुहाव
नें॥तिनमेंनरागविरोधपंचेंद्रीजयन
पदपावनें॥४॥समतासम्हारैंथुतिउ
चारैंवंदनाजिनदेवकों॥नितकरैंश्रुति
रतिकरैंप्रतिक्रमतजैंतनअहमेवकों॥
जिनकेंनन्हौननदंतधोवनलेशअंबर
आवरणा॥भूमाहिंपिछलीरेंनिमेंकछु
सयनएकासनकरन॥५॥इकबारदि
नमेंलैंअहारखडेअलपनिजपानमें
कचलोंचकरतनडरतपरीसहसोंल
गेनिजध्यानमें॥अरिमित्रमहलमसा॥

ह स्त लि खि त

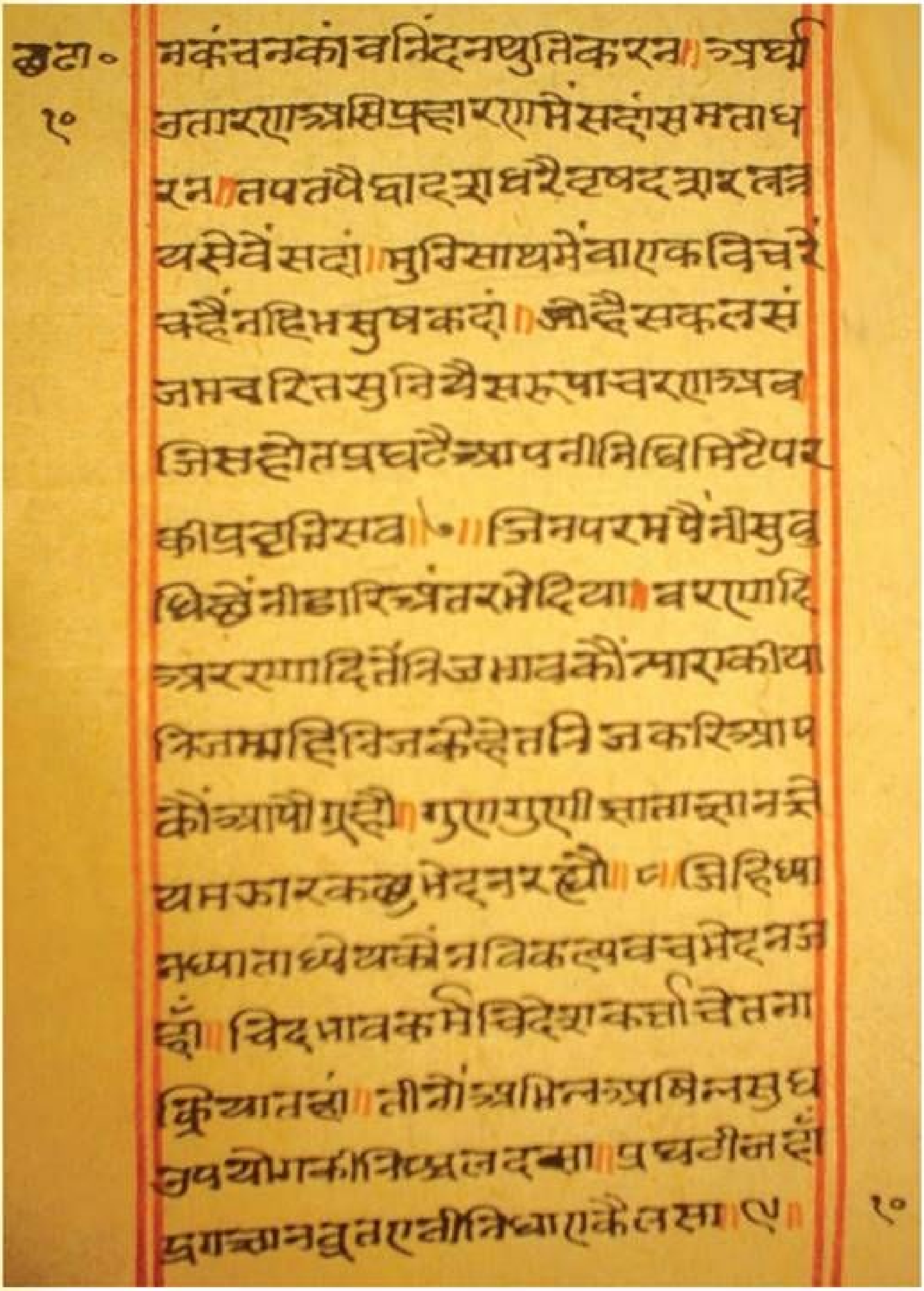

छढा० नकंचनकांचनिंदनथुतिकरन॥ अर्घा
१० वतारणअसिप्रहारणमेंसदासमताध
रन॥ तपतपैद्वादशधरैवृषदशरत्नत्र
यसेवेंसदा॥ मुनिसाथमेंवाएकविचरें
चहैंनहिंभवसुखकदा॥ यौंहैसकलसं
जमचरित्तसुनियैसरूपाचरणअब॥
जिसहोतप्रघटैआपनीनिधिमिटैपर
कीप्रवृत्तिसब॥ ८॥ जिनपरमपैनीसुबु
धिछैनीडारिअंतरभेदिया॥ वरणादि
अररागादितैंनिजभावकौंन्याराकीया
निजमांहिनिजकेहेतनिजकरिआप
कौंआपौगह्यौ॥ गुणगुणीज्ञाताज्ञानज्ञे
यमंझारकछुभेदनरह्यौ॥ ९॥ जिहिंध्या
नध्याताध्येयकौंनविकल्पवचभेदनज
हाँ॥ चिदभावकर्मचिदेशकर्ताचेतना
क्रियातहां॥ तीनौंअभिन्नअखिन्नसुध
उपयोगकीनिश्चलदसा॥ प्रघटीजहां
दृगज्ञानव्रतएतीनधाएकैलसा॥ १०॥ १०

छ ह ढा ला

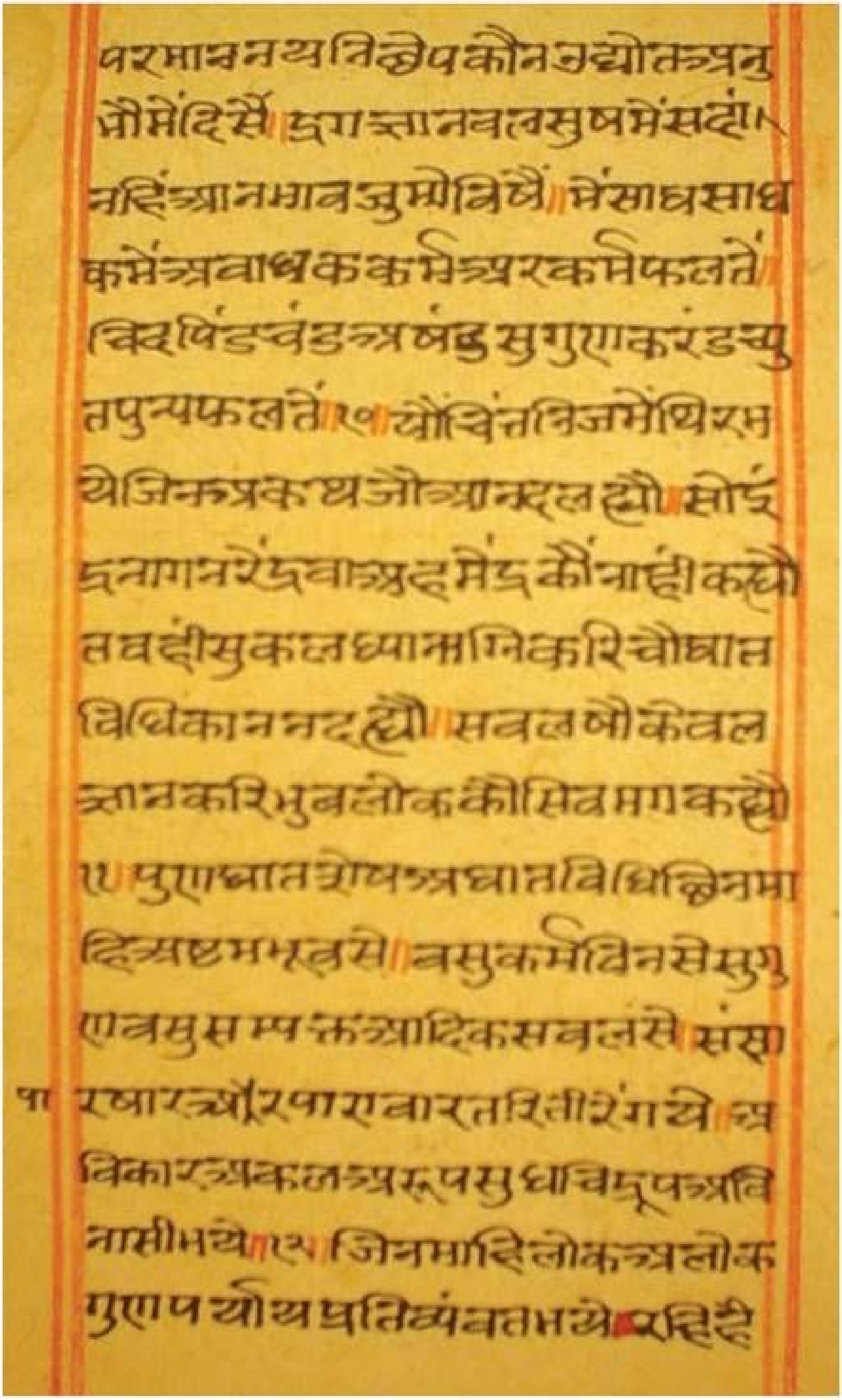
परमाणनयनिक्षेपकोनउद्योतअनु
भौमेंदिखैं॥द्रगज्ञानबलसुषमैंसदा
नहिंआनभावजुमोविषैं॥मैंसाधसाध
कमैंअबाधककर्मअरुतसफलनतें॥
चितपिंडचंडअखंडसुगुणकरंडच्यु
तपुनिकलनतें॥९॥यौंचिंतनिजमैंथिरभ
येतिनअकथजोआनंदलह्यौ॥सोइं
द्रनागनरेंद्रवाअहमेंद्रकौंनाहींकह्यौ
तबहीसुकलध्यानाग्निकरिचौघात
विधिकाननदह्यौ॥सबलषौकेवल
ज्ञानकरिभविलोककौंसिवमगकह्यौ
॥१०॥पुणघातशेषअघातविधिछिनमा
हिंअष्टमभूवसै॥वसुकर्मविनसेंसुगु
णवसुसम्यक्तआदिकसबलसे॥संसा
पा रषारअपारपारावारतरितीरैंगये॥अ
विकारअकलअरूपसुधचिद्रूपअवि
नासीभये॥११॥जिनमांहिलोकअलोक
गुणपर्यायप्रतिबिंबितभये॥रहिहैं

हस्तलिखित

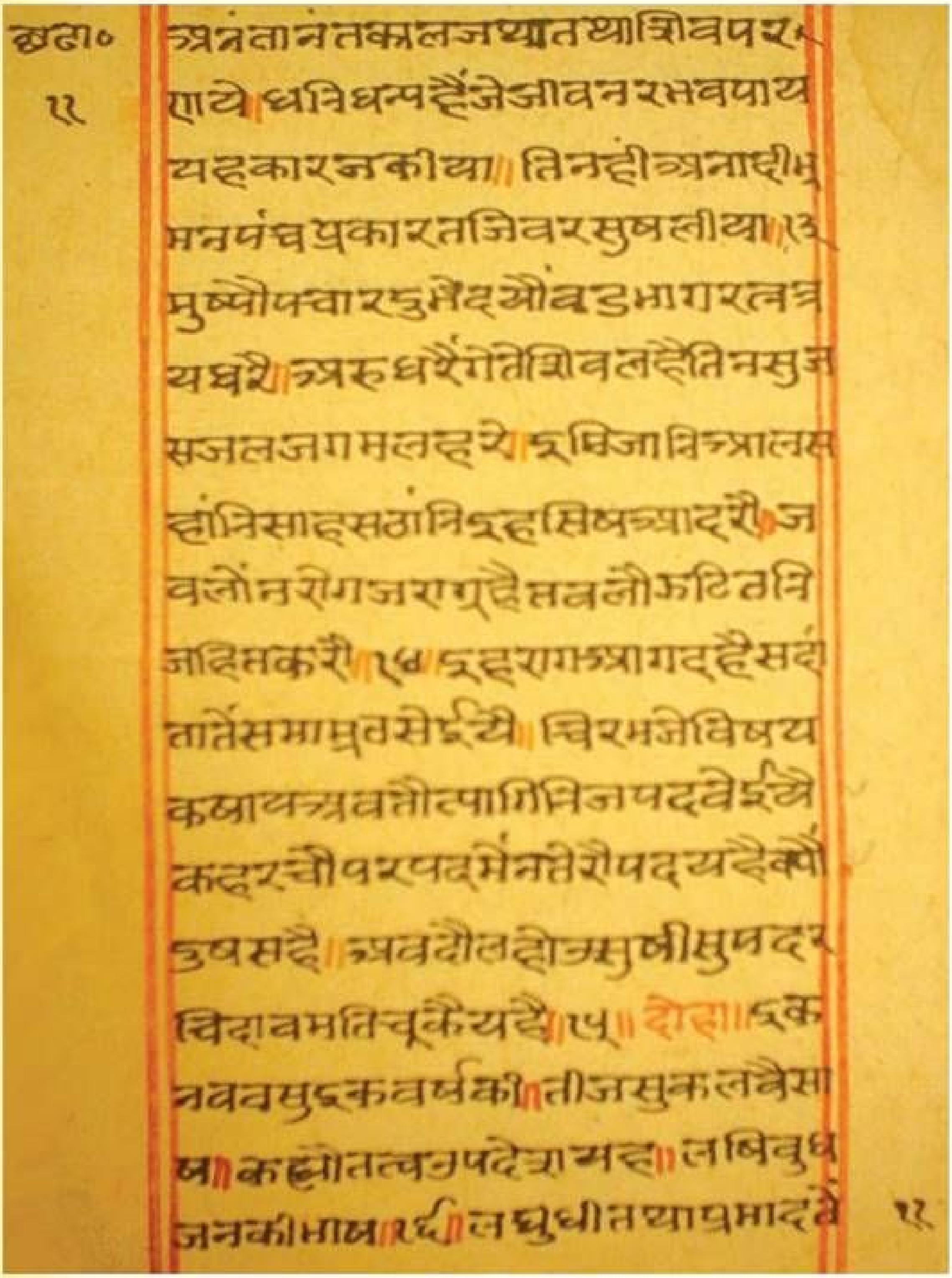

छहढा०
११
अनंतानंतकालजस्याततथाशिवपुर
पाये॥धनिधन्यहैंजेजीवनरभवपाय
यहकारजकीया॥तिनहीअनादीभ्र
मनपंचप्रकारतजिवरसुषलीया॥१३॥
मुख्योपचारदुभेदयोंबडभागरत्नत्र
यधरें॥अरुधरैंगेतेशिवलहैंतिनसुज
सजलजगमलहरे॥इमिजानिआलस
हानिसाहसठानियहसिषआदरौ॥ज
बलौंनरोगजराग्रहैतबलौंझटितनि
जहितकरौ॥१४॥यहरागआगदहैसदा
तातेंसमामृतसेईयें॥चिरभजेविषय
कषायअबतौत्यागिनिजपदवेईये
कहारच्यौपरपदमेंनतेरोपदयहैक्यौं
दुषसहै॥अबदौलहोउसुषीसुपदर
चिदावमतिचूकैयहै॥१५॥दोहा॥इक
नववसुइकवर्षकी॥तीजसुकलबैसा
ष॥कर्योतत्वउपदेशयह॥लषिबुध
जनकीभाष॥१॥लघुधीतथाप्रमादतें ११

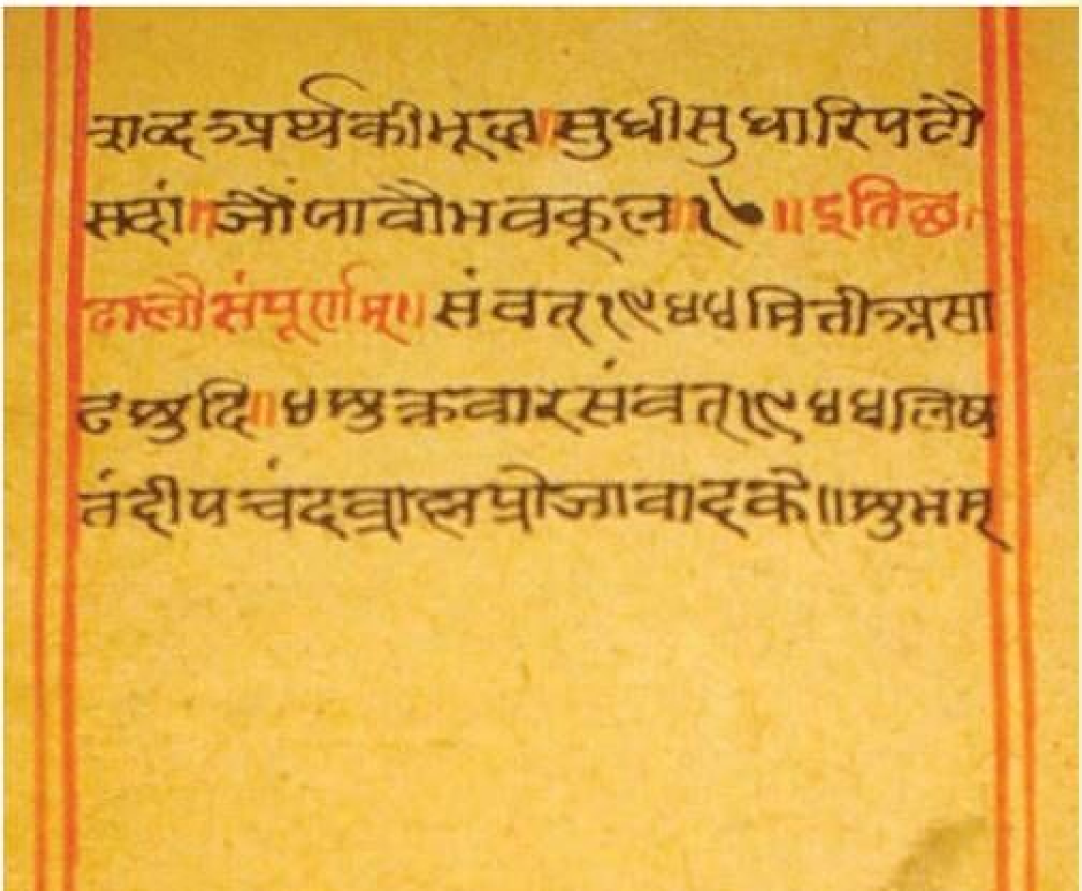
शब्द अर्थ की भूल॥ सुधी सुधारि पढो
सदां॥ जो पावो भव कूल॥ ६॥ इति छ
ढालो संपूर्णम्॥ संवत १९५५ मिती आसा
ढ सुदि॥ ५ सुक्रवार संवत १९५५ लिष
तं दीपचंद ब्रास प्रोजाबाद के॥ शुभम्

हस्तलिखित